प्राक्-कथन

लाखों बरस तक भूगर्भ के अन्धकार में पृथ्वी के भार से दब कर, काला कोयला अपनी कालिमा को दूर करके चमकता हुआ हीरा बन जाता है। किन्तु जब खानि से निकाला जाता है उस समय वह धुंधला कांच सा होता है। यन्त्रों में विशेष घर्षण और मार्जन की यन्त्रणा से उस में कान्ति, जगमगाहट और पारदर्शिता आजाती है, और फिर वह राजा के मुकुट तक पहुंच जाता है।

इसी प्रकार यह जीवात्मा अनादिकाल से नरक निगोद में दबा पड़ा है। वहां से निकलने पर भी एकेन्द्रियादि पर्य्यायों में इस का चैतन्य गुण छिपा सा रहता है, प्रकाशित नहीं हो पाता। मनुष्य जन्म पाकर सद्गुरू के संसर्ग और सम्यक् चरित्र की रगड़ से इस का अनन्त ज्ञानादि स्वचतुष्टय प्रकाश में आता है, और यह सर्वोच्च सिद्ध पद को पहुंच जाता है।

जीव को पुरुष भी कहते हैं। पुरुष अपने अर्थ की सिद्धि, अपने मतलब की प्राप्ति, अपने स्वात्म तत्व का लाभ, किस प्रकार करे, इस का उपाय, घट बढ़ हजार वर्ष हुए, श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने एक ग्रन्थ की रचना करके बताया, और यथा नाम तथा गुणः की लोकोक्ति अनुसार उस ग्रन्थ का नाम पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय रक्खा। इस महत्व पूर्ण जैनागम में जिन धर्म का सार सरल संस्कृत श्लोकों में संक्षेप से भर दिया है।

इस ग्रन्थ में मंगलाचरण रूप से पहले सर्वज्ञ का स्वरूप, फिर उन वीतराग हितोपदेशी जगद्गुरु के स्पंदरहित होठों से, कण्ठ तालु आदि शब्द स्थान के हिले बिना, निरक्षरी स्याद्वाद द्वादशांग वाणी का व्यवहार और निश्चयात्मक विवेचन, फिर रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मूल अहिंसा सिद्धान्त का प्ररूपण किया है। अहिंसा धर्म का विस्तार, संक्षेप रूप, थोड़े शब्दों में ऐसी विशिष्टता से किया है, कि एक एक वाक्य पर एक एक ग्रंथ लिखा जा सकता है।

अहिंसा धर्म कहने को तो जगद्व्यापी है, यहूदी, ईसाई, बौद्ध, मुसलिम हिन्दू, सिक्ख, पारसी, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, देवसमाज, राधास्वामी, थियासोफ़ी, आदि सब ही मतों में अहिंसा को धर्म का मूल माना है, परन्तु प्राचीन काल से अब तक किसी न किसी रूप में थोड़ा बहुत हिंसा का प्रचार होता रहा है, और अहिंसा के सिद्धान्त पर पूरा आचरण इन में से किसी भी धर्म में नहीं किया जा रहा है।

ऐसा क्यों है इस का स्पष्टीकरण जैन सिद्धान्तानुसार भली प्रकार हो जाता है। संसारी जीव अनादिकाल से अज्ञान अवस्था में है, नरक निगोद में रहा है नारकी जीवों के परिणाम गति स्वभाव के कारण क्रूर होते हैं, एक दूसरे को आरे से काटते हैं, मुद्गरों से मारते हैं, पैने शस्त्रों से छेदते हैं, घानी में पेलते हैं, और आग में जलाते हैं। नरक का जीवन निरन्तर तीव्र वेदना रूप है और पारस्परिक हिंसा ही में व्यतीत होता है, पशु पर्याय में भी अनेक योनी ऐसी हैं जहां यह जीव प्रचुर हिंसा में रत रहता है। शेर, भेडिया, नेवला, कुत्ता, बिल्ली, सांप मकड़ी, चील, गिद्ध, आदि छोटे पशुओं को मार कर खाते रहते हैं। यह अनादि मिथ्या संस्कार मनुष्य जन्म मिलने पर भी लगा रहता है, जीव उल्टे रास्ते पर ही चलता रहता है। माता के उदर में उल्टे मुंह लटका रहता है, मुंह का काम नाभि से लेता है, और सिर के बल ही जन्म लेता है। फिर इस में क्या आश्चर्य है कि मनुष्य भव पाने पर भी प्रायः इस जीव की बुद्धि विपरीत ही रहती है।

यही कारण है कि बाइबिल, कुरान, वेद पुराण आदि धर्म ग्रन्थों में अहिंसा का सिद्धान्त मानते हुए भी कहीं कहीं हिंसा का प्रचार किया। "Thou shalt not kill" "तू वध नहीं करेगा" यह ईश्वर के १० आदेश में बाइबिल में दिया है। किन्तु इस का अर्थ यह लगाया जाता है कि इस वाक्य में केवल मनुष्य हिंसा का निषेध किया गया है। महापुरुष इबराहीम ने अपने पुत्र को अपने हाथ से काट कर ईश्वर की भेंट करना चाहा। वह हिंसा न थी पुण्य कर्म था। यज्ञ में पशु हिंसा का व्यवहार मिसिर, यूनान, इटली इंगलैण्ड आदि देशों में होता रहा है। हिन्दू धर्म में यज्ञ बलिदान, गोमेध, अश्वमेध, अजमेध, नरमेध तक को हिंसा

नहीं वल्कि धार्मिक कर्तव्य कहा गया है। यौरोपीय देशों में तो यज्ञबलि प्रथा कम होती जाती है। किन्तु भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान दोनों पशुबलि को अब तक धर्म का अंश मान रहे हैं। देशीय राज्यों में दसहरे के दिन भैंसे और बकरे काटे जाते हैं। और विंध्याचल, कालीघाट आदि स्थानों और देवियों के मठों पर बकरे, मुरगे, कबूतर आदि पशु हर साल लाखों की संख्या में बध किये जाते हैं। हमारे मुसलमान भाई गोवध को धर्म का अनिवार्य अंश मान कर गोबलि उत्सव ईद के दिन मनाते हैं, जिस से हिन्दु धर्मानुयायीयों के हृदय को आघात होता है, और परिणाम यह होता है कि हर साल आपस की लड़ाई में बहुसंख्य मनुष्य घायल होते हैं, और जेल की सजा पाते हैं और पारस्परिक द्वेष बढ़ता जाता है।

यज्ञ में बलिदान मांस प्रसादरूप खाने से मांसाहार वृत्ति भी प्राचीन काल से चली आरही है। मांसाहार से रोग की संभावना रहती है, शाकाहार, फलाहार, दूध, दही, मक्खन, घी स्वास्थ्यप्रद और बलप्रद है। प्रत्येक धर्म में मांसाहार को वर्जित और हेय कहा है। किसी धर्म के भी साधु सन्यासी मांसाहार ग्रहण नहीं करते। खेद है कि बौद्ध धर्म के प्रतिपालक चीन जापान ब्रह्मा देश निवासी मांस को सर्वथा अभक्ष्य नहीं समझते, किन्तु बौद्ध धर्म में मांसाहार हेय और निषिद्ध है। पाश्चात्य देशों में मांसाहार का प्रचार कम हो रहा है।

धर्म के नाम पर घोर संग्राम और भयंकर मनुष्य-हिंसा संसार में होती आई है। तीर्थस्थान के सम्बन्ध में ईसाई और मुसलमानों में बरसों तक युद्ध रहा, जिस को ईसाइयों ने क्रूसेद Crusade और मुसलमानों ने जहाद कह कर धार्मिक पुण्य संचय का कारण समझ लिया। ईसा मसीह को धर्म द्रोही कह कर सलीब पर चढाया, और निर्दयता से उस की जान ली। उन के शिष्यों और अनुयायियों को कई शताब्दी तक अत्यन्त निष्ठुरता से सताया गया और वध किया गया। ईसाइयों के आपस में भी शताब्दीयों तक तीव्र द्वेष रहा। Inquisition और Star Chamber के नाम से जिन अत्याचारों का सम्बन्ध है, उन के विवरण से हृदय कांप उठता है।

राजनैतिक हिंसा भी पुराने जमाने से होती आई है, और वर्तमान समय में तो हिंसा के उपकरण बहुत ही बढ गये हैं, तीर तलवार की लडाई में तो आमने सामने युद्ध होता था, और अब तो बिना देखे, मीलों की दूरी से या आकाश की ऊंचाई से एक समय में अति संख्यक प्राण हरने वाले, वस्तियों को विध्वंस करने वाले बम के गोले, गिरजा, अस्पताल, स्कूल, कालिज, गोदाम, कारखाने, होटल, दफतर आदि का सर्वनाश कर देते हैं।

विज्ञान के नाम पर भी निर्दयता से असंख्यात प्राणियों की हिंसा की जाती है। खरगोश, मेडक आदि को काट काट कर शरीर रचना और नसा जाल के भेद बतलाये जाते हैं। बंदर, कुत्ता आदि को विविध प्रकार की शारीरिक यंत्रणा देकर, उन का परिणाम देखा जाता है। पशुओं की नसा ग्रन्थियां काट कर औषधियां बनाई जाती हैं। किन्तु रोग बढता ही जाता है, कम नहीं होता।

नगर प्रबन्ध, स्वास्थ्य रक्षा, कृषि रक्षा आदि के नाम से भी प्रबल संकल्पी हिंसा की जाती है। चूहों और कुत्तों को मार डालने के लिये नौकर रखे जाते हैं और इनाम दिये जाते हैं। नए नए खरचीले महकमे बनाये जाते हैं। चिड़ीमार व्याध का व्यवसाय प्राचीन काल में वर्जित और घृणित था, अब तो मोटी वेतन पाने वाले डाक्टर मच्छरमार, मेंडकमार, कुत्तेमार, चूहेमार, टिड्डीमार, कीडेमार बन रहे हैं। ऐसी अधम हिंसा को परोपकार और अपने को धार्मिक और परोपकारी कहते हैं।

शिकार का शौक भी बढता जाता है, कहा जाता है कि यह वीरता का साधन है और हिंसक जीवों के हिंसन से अन्य जीवों का उपकार होता है। बंदूक से चिड़ियों को मार गिराने में, भागते हुए हिरन खरगोश या लौमड़ी का घोड़े की सवारी पर पीछा करके मार डालने में, मचान पर बैठ कर छिपे हुए शेर को खेद कर दूर से बन्दूक मार देने में ऐसी ही शूरता है जैसी दंगई बच्चे तालाब में पत्थर फेंक कर मेडकों को मार डालने, या चूहा पकड़ कर बिल्ली कुत्ते से फड़वाने में दिखलाते हैं।

कुछ लोगों ने एक यह झूठा ख्याल फैला दिया है कि शेर, भेड़िया, सांप,

बिच्छू, भिड, खटमल, मच्छर, मक्खी, चींटी आदि मनुष्य जाति के जन्म संस्कार से वैरी है, और इन को मार डालना मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य है। यह भी मनुष्य के पूर्व मिथ्या संस्कार का दुष्परिणाम और भ्रम है। यदि मनुष्य अपने मन में इन अभागे जीवों के प्रति दया भाव, समता भाव रक्खे, तो यह कदापि मनुष्य पर आक्रमण न करें। यह तो अपने बचाव के अर्थ, आत्म रक्षा के निमित्त मनुष्य को हानि पहुंचाते हैं, द्वेष भाव से नहीं। यदि मनुष्य सांप या शेर की तरफ समता भाव से देखता रहे, तो इस के दृष्टि बल से प्रभावित (magnetise or hypnotise) होकर वह इस के आधीन हो जावेंगे और इस के इशारों पर चलेंगे। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रभाव है महात्मा साधुओं के शरीर पर सांप लिपट जाते और गुजर जाते हैं, और शेर भेडिये उन के चरणों में आ बैठते हैं। और पशुओं में पारस्परिक वैर भाव भी मिट जाता है। सांप न्योला, शेर, बकरी पास पास बैठ जाते हैं। जैन साहित्य तो इस प्रकार के उदाहरणों से भरा हुआ ही है। ईसाई धर्म में एक महात्मा सेन्ट फ्रांसिस of Assisi ऐसे प्रसिद्ध हुए हैं जिन के बावत कहा जाता है कि सिंह जैसे क्रूर परिणामी जीव भी उन के प्रेम से आकर्षित होकर उन के चरणों को चूमते थे।

कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि कोई पशु ऐसा घायल या रोग ग्रसित हो कि उस के अच्छा होने की आशा न रहे, तो उस को गोली मार देना मनुष्य का कर्तव्य है, निर्दयता नहीं बल्कि दयालुता है, उस को शारीरिक वेदना से बचाया जाता है। यदि यह दयालुता है, तो फिर अपने बालकों, पुत्र, कलत्र, मित्रादि को क्यों इस दयालुता से वंचित रक्खा जाता है, शारीरिक वेदना से व्यथित होकर स्वास्थ्य प्राप्ति से निराश होकर, बुद्धि भ्रष्ट मनुष्य अपघात कर लेते हैं। किन्तु उन को मारडालने मे कोई भी धर्म नहीं समझता बल्कि मारडालने वाला अपराधी, प्राणदण्ड का भागी होता है। सच्ची बात तो यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के विषय में कहा जाता है कि जब तक श्वास, तब तक आस, और रोग और वेदना के निवारणार्थ भरसक प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार पशु पक्षी आदि जीव मात्र के वास्ते भी प्रबन्ध होना चाहिये। यह बात तो समझ में आती

है कि मनुष्य अपनी अयोग्यता, निर्धनता, अज्ञानता, निर्बलता, प्रमाद, बेपरवाही आदि से पशु पक्षी के कष्ट निवारणार्थ ऐसा प्रबन्ध नहीं करता, परन्तु रोग ग्रसित या दुःखित जीव को मारडालने में धर्म कहना झूठ है, अपनी आत्मा को ठगना और अपने पाप को बढ़ाना है।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि हिंसा के विना संसार की उन्नति नहीं हो सकती, हिंसा अनिवार्य है, और अहिंसा का सिद्धान्त मनुष्य को कायर बनाता है और सामाजिक पतन का कारण हैं। यह नितान्त भूल और भ्रम है और वह लोग अहिंसा के सिद्धान्त को समझे ही नहीं हैं।

अहिंसा तो मनुष्य को वीर, साहसी, पराक्रमी, परीषह-विजयी बनाती है, और सामाजिक उन्नति और विकाश का कारण है। पूर्ण अहिंसा तो सर्व परिग्रह त्यागी दिगम्बर जैन साधु ही पाल सकते हैं, जिन को जैनागम में महाव्रती कहा गया है। गृहस्थी अपूर्णरूप, अणुव्रती अहिंसा का पालन करता है। जहां तक हो सकता है हिंसा से वचता है और जब हिंसा से नहीं बच सकता तो अपने भाव में कलुषता न रखता हुआ मजबूरी समझ कर हिंसा करता है, किन्तु उस को बुरा समझता है और हिंसा से उपर्जित दुष्कर्म का निराकरण करता रहता है। जैन पुराणों से विदित है कि श्रीरामचन्द्रजी और उन के सेनापती श्रीहनुमानजी ने अनेक युद्ध किये और दुष्टों के प्राण हरे। पाण्डव जैसे महापुरुष महाभारत जैसे भीषण संग्राम में तत्पर रहे, किन्तु यह सब राज भोग करके संसार त्याग करते हुए, इन सब ने साधु धर्म ग्रहण करके, महाव्रत पाले, दुद्धर तपश्चरण किया, पूर्व संचित कर्मों का नाश किया, और अन्त में केवल ज्ञान की प्राप्ति कर तद्भव मोक्षगामी सिद्ध पुरुष हुए, जिन की पूजा, अर्चा और पुण्य स्मृति निर्वाण कांड में प्रति दिन की जाती है।

सम्राट चन्द्रगुप्त, मैसूरनृपति रायमल्ल, उन के सेनापति क्षत्रिय कुलोत्पन्न, समरधुरन्धर, वीर मार्तण्ड, रणराजसिंह, वैरी कुलदण्ड, समर परशुराम आदि पद विभूषित चामुंडराय, जैन साधु होकर सद्गति को प्राप्त हुए। महामेघ वाहन वंश के राजा खारवेल, जोधपुर राज्यस्थ ओसिया के परमार और सोलंकी राजपुत्र

अन्हिलपुर पाटन के महाराज कुमारपाल आदि अनेक प्रतापी राजा अहिंसा धर्म को मानते और प्रजा को सुख सम्पत्तिं पूर्ण रखते और समाज कीर्ति को दिगन्त व्यापी करते हुए परम पूज्य पुरुष हुए हैं।

सारांश यह है कि जैनधर्मानुयायी सद्गृहस्थ, पृथ्वी सम्राट, पटखंड विजयी चक्रवर्ती, महान योद्धा, शूरवीर, सेनापती, राजमंत्री, न्यायाधीश, राजवैद्य, इंजिनियर, विज्ञान पारगामी, कारीगर, संगीताचार्य, व्यापारी हो सक्ता और बढई, लुहार, दरजी, मजदूर आदि का सब ही कुछ काम कर सकता है, और जैन गृहस्थ धर्म में दृढ़ रह कर दिन प्रतिदिन उन्नति करता हुआ, एक ही जन्म में परमात्मपद तक पा लेता है। जिन धर्म प्रतिपालक के सामने कोई रोक नहीं है। वह उन्नति की पराकाष्ठा को पंहुंच सकता है और अहिंसा धर्म उस को इस उन्नति मार्ग में पद पद पर सहकारी होता है।

जैन-अहिंसा के सिद्धान्त को समझने की आवश्यकता है, वह सरल सीधा है। प्रत्येक जीव प्राणधारी है। प्राण दस हैं। स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, पांच तो इन्द्रिय प्राण, और मन, वचन, काय-बल-रूप, तीन बल प्राण और श्वासोश्वास और आयु मिल कर दस प्राण हुए। शरीरधारी प्राणी नाना प्रकार की योनियों में संसार भ्रमण करता है। जैसा जीव मनुष्य में है, वैसा ही जीव पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति में है। जिस अवस्था में वह स्थावर एकेन्द्रिय कहलाता है, हिर फिर नहीं सक्ता, वहां भी उस के कम से कम ४ प्राण होते हैं, स्पर्शन इन्द्रिय, काय-बल, श्वासोश्वास और आयु। लट, कीड़े जैसे जीव के रसना इन्द्रिय और वचन बल के बढ़ जाने से ६ प्राण होते हैं, और वह द्वीन्द्रिय कहलाता है। चींटी जैसे जीव के घ्राण इन्द्रिय बढ़ जाने से ७ प्राण होते हैं। मक्खी जैसे प्राणी के चक्षु की अधिकता से ८ प्राण हैं। ऐसे पंचेन्द्रिय जीव, जिन के मन नहीं हैं, ९ प्राण-धारी हैं, सो विरले हैं। अन्य सब मन सहित पंचेन्द्रिय जीवों के दश प्राण हैं। यह १० द्रव्य प्राण हैं। जीव के स्वभाव रूप, ज्ञानचेतना, स्वानुभवानन्द, अनन्त-वीर्य गुण को भाव प्राण कहते हैं। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय शास्त्र के ४३वें श्लोक में अहिंसा का लक्षण इस प्रकार कहा है।

यत्खलु कषाय योगात्प्राणानां द्रव्य भाव रूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ ४३ ॥

कषाय वश जीव के द्रव्य अथवा भाव प्राणों को हानि पहुंचाने को हिंसा कहते हैं-अर्थात् क्रोध मान, माया लोभ वश, या बेपरवाही से बिना विचारे, बिना देखे भाले, उतावली, घबराहट से किसी प्राणधारी के द्रव्य प्राण वा भाव प्राण को हानि पहुंचाने को हिंसा कहते हैं। जितने अधिक प्राणों को जितनी अधिक क्रूरता से जितनी अधिक हानि की जावेगी उतनी ही अधिक हिंसा का बंध होगा। हिंसा से निवृत्ति या बचे रहना अहिंसा है।

अहिंसा व्रत दो प्रकार का है, अहिंसा महाव्रत और अहिंसा अणुव्रत, सर्वथा पूर्णतया अहिंसा महाव्रत का पालन साधु वा मुनिराज करते हैं। साधु पद से नीचे श्रावक पदवी में घट बढ अहिंसा धर्म का व्यवहार अपनी अपनी शक्ति के अनुसार हर कोई कर सकता है। श्रावक के अणुव्रत की अपेक्षा हिंसा विविध प्रकार की है। सङ्कल्पी हिंसा का तो त्याग व्रतारम्भ होते ही हो जाता है। जान बूझ कर, सोच समझ कर, हिंसा करने के इरादे से, अणुव्रती श्रावक कदापि हिंसा नहीं करेगा, किन्तु संकल्पी हिंसा को छोड़ कर आरम्भी वा विरोधी हिंसा का त्याग श्रावक के यथा शक्ति होता है।

यह विषय गहन है, प्रत्येक मनुष्य समय समय पर अपनी अवस्था और परिस्थिति के अनुसार अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ अपने वास्ते निश्चय करेगा जैसा संसार के हर काम में निश्चय किया जाता है, और जहां सम्भव होगा अपने से अधिक विद्वान् वा अनुभवी श्रावक मे परामर्श करके काम करेगा। दो चार दृष्टान्त यहां समझने के लिये लिखते हैं। एक जैन डाक्टर को घाव अच्छा करना है। घाव में कीड़े पड़ गए हैं। घाव अच्छा करने के लिये कीड़ों को निकालना वा हटाना आवश्यकीय है, ऐसा करने से और दवा लगाने से कीड़ों का प्राणघात अवश्य होगा। यह हिंसा संकल्पी हिंसा नहीं है। यहां डाक्टर का भाव कीड़ों के प्राणघात का नहीं है, किन्तु घाव के अच्छा करने का है और कीड़ों के प्राण बचाने का कोई उपाय भी नहीं है। यदि ऐसा सम्भव हो कि घाव भी अच्छा हो जाय और कीड़े भी न मरें, तो जैन डाक्टर अवश्य कीड़ों को बचा कर घाव अच्छा करेगा।

रोगी को दवा देने से भी विविध प्रकार के कीटाणु जो रोग का हेतु हैं, नाश को प्राप्त होते हैं, किन्तु यहां भी उन का प्राण व्यपरोपण संकल्पी हिंसा नहीं है। रात को घर में चोर आगया, या किसी ने अपने वा अन्य पुरुष वा पशु पर आक्रमण किया, तो धन रक्षा, आत्म रक्षा, वा अन्य प्राणी की रक्षा के भाव से, चोर या आक्रमण करने वाले को जितनी हानि रक्षा भाव से पहुंचाई जायगी और उस में द्वेष, निर्दयता, क्रूरता आदि भाव न होगा, वह हिंसा संकल्पी हिंसा न होगी बल्कि विरोधी हिंसा होगी। भेड़िये या शेर से पशु वा मनुष्य को बचाने में यदि उस हिंसक की हिंसा भी हो जाय तो वह संकल्पी हिंसा न होगी। मन्दिर या मकान बनवाने, भोजन बनाने, घर को साफ करने, खेती करने, आदि कार्यों में सावधानता पूर्वक काम करने से भी जो अनिवार्य हिंसा हो जाती है, वह संकल्पी हिंसा नहीं है। आरम्भी हिंसा है। वैरी के आक्रमण पर राजा को राज्य और प्रजा की रक्षा के अर्थ जो अनिवार्य हिंसा करनी पडती है, वह सङ्कल्पी हिंसा नहीं है, विरोधी हिंसा है। श्रद्धानी श्रावक गृहस्थ के सब कार्य करता है, किंतु उस के भाव सदा कोमल दयामय रहते हैं। अनिवार्य हिंसा हो जाने पर उस को हर्ष नहीं बल्कि खेद ही होता है, और वह उस कर्म का प्रतिक्रमण, और प्रायश्चित करता है। खटमल, मच्छर से बचने के लिये श्रावक पलङ्ग को साफ रखेगा, चूल में छिद्र न रहने देगा, पाये के गिर्द कपड़ा मंढवा देगा जिस में खटमल न पड़े। और यदि खटमल पड़ ही जावें तो पलङ्ग को खोल कर खटमल अलग कर के फिर से बनवा लेगा। किंतु ऐसा न करेगा कि पलङ्ग को धूप में डाल कर पीटे, और जो खटमल निकलते जावें, उनको कुचलता जावे, या उबलता हुआ गरम पानी डाल कर खटमलों को मार डाले। मच्छर से बचने के लिये, श्रावक मुसहरी तान लेगा। ओढ कर सोवेगा। मकान साफ रखेगा। यदि मच्छर शरीर पर बैठे तो उस को उडा देगा। किंतु मच्छर को हाथ पटक कर मारेगा नहीं, कुचलेगा नहीं।

जहां किसी के भिड़ काट लेती है, तो सहसा उस को कुचल कर मारडालते हैं और यह कहते हैं कि भिड़ को मारडालने से उस का जहर नहीं चढ़ता. यह

घोर निकृष्ट संकल्पी हिंसा है। यदि श्रावक के भिड़ काट लेगी तो वह दुःख के शमन का उपाय करेगा। किन्तु भिड़ के प्रति द्वेष भाव नहीं करेगा। बिच्छू वा सांप को लोग देखते ही मार डालते हैं। कहते हैं कि यह मनुष्य के जन्म वैरी हैं इन को मारना मनुष्य का धर्म है। श्रावक के मन में ऐसे हिंसा-भाव उत्पन्न ही नहीं होते। अंग्रेजों की देखादेखी हिन्दू भी अब मक्खीमार हो चले हैं। जहरीला चिपकीला कागज़ मेज पर रखते हैं जिस में फंस कर मक्खियां तड़प तड़प कर मरती हैं, हाथ में चमड़े का पान लगा हुआ डंडा रखते हैं और उस से मक्खियां मारा करते हैं। ऐसे निन्दनीय कार्य श्रावक कदापि न करेगा। श्रावक यदि बनिये का रोजगार करेगा, तो नाज को पुराना न होने देगा, घुन न लगने देगा, जल्दी वेच देगा। बनिये लोभ वश भाव बढने की प्रतीक्षा में नाज की कोठियां भरी रखते हैं और उन में घुन लगता रहता है। भोजन की तय्यारी में श्रावक सावधानता से काम करेगा। जीव जन्तु को वचा कर झाड़ू देगा, पानी फेंकेगा। वस्तु धरे या उठावेगा। यदि कोई मक्खी, मकड़ी के जाले में फंस जाय, तो श्रावक उसे निकाल देगा, जाला तोड़ने में और मकडी का भोजन छीन लेने में जो किंचित हिंसा है, उस से कहीं अधिक पुण्य मक्खी के प्राण रक्षा में है। इत्यादि

सद्गृहस्थी श्रावक संसार का प्रत्येक कार्य सावधानी से भली प्रकार, सफलता पूर्वक कर सकता है, और सामाजिक उन्नति की पराकाष्ठा के साथ साथ आत्मोन्नति करता हुआ, व्रत-ग्रहण करके चारित्र शुद्धि के क्रम वद्ध ग्यारह पद (जिन को प्रतिमा कहते हैं) प्राप्त करके, मुनि धर्म को अङ्गीकार करता है, पञ्च महाव्रतादि रूप १३ प्रकार चारित्र पालता हुआ, पूर्ण श्रुत-ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्यय और केवल ज्ञान को प्राप्ति कर सिद्ध पद पर जा विराजता है। वही पुरुषार्थ सिद्धि है, और उसी का उपाय इस परम उपयोगी ग्रन्थ में बतलाया गया है।

जैनं जयतु शासनं

लाहौर
श्रुत पञ्चमी, २४५९

अजितप्रसाद

दातारों के शुभ नामों की सूची

(१)	सौ० श्रीमती चमेलीदेवी जी धर्मपत्नी वा० लालचन्द जी एडवोकेट रोहतक अनन्तव्रत के उद्यापन के उपलक्ष्य में	८०)
(२)	लालचन्द जी जैन एडवोकेट रोहतक	५०)
(३)	ला० कपूरचन्द जी जैन रईस रोहतक	५०)
(४)	ला० शिवदयाल जी जैन रईस रोहतक	५०)
(५)	पं० रायसिंहमल्ल जी सर्राफ गोहाना अपने ज्येष्ठ भाई स्व० ला० दरबूमल्ल जी की स्मृति में	५०)
(६)	ला० हरद्वारीमल जी जैन सर्राफ रोहतक ...	२५)
(७)	रायसाहिब ला० रतनलाल जी एम० ए० प्रिन्सिपल इण्टरमीडियेट कालिज रोहतक ...	२५)
(८)	ला० जानकीप्रसाद जी एडवोकेट रोहतक ...	२०)
(९)	ला० फूलचन्द मकसूदनलाल जी जैन गोहाना अपनी मातेश्वरी के स्वर्गवास होने पर	१५)
(१०)	ला० प्रतापसिंह जी मोटर एजेण्ट रोहतक ...	१५)
(११)	ला० शिवदयाल जयन्तीप्रसाद जी रोहतक ...	१०)
(१२)	ला० नानकचन्द जी एडवोकेट रोहतक ...	१०)
(१३)	ला० रतनलाल जी वकील रोहतक	१०)
(१४)	ला० इन्द्रसेन जी वकील रोहतक	१०)
(१५)	ला० चेतनदास जी वकील गोहाना	१०)
(१६)	ला० विश्वम्भरदास जी साहिब मिलिटरी पेन्शनर रोहतक	१०)
(१७)	ला० दीवानसिंह जी हेड ट्रेजरी क्लर्क रोहतक ...	१०)
(१८)	ला० नन्दलाल जी रईस रोहतक	२०)
(१९)	ला० गनपतराय जी जैन रोहतक	१०)

(२०) ला० जिनेश्वरदास जी वकील रोहतक ... ... ५)

(२१) ला० श्रीचन्द जी जैन मिलिटरी पेन्शर रोहतक ... ५)

(२२) ला० बिशनस्वरूप जी सर्राफ रोहतक ... ... ५)

(२३) ला० मुण्डूमल झूण्डूमल जी जैन रोहतक ... ... १०)

(२४) ला० उग्रसेन जी ठेकेदार रोहतक ... ... ५)

(२५) सौ० श्रीमती इलायचीदेवी जी
सुपुत्री ला० हरद्वारीमल जी सर्राफ रोहतक ... ५)

(२६) सौ० श्रीमती पार्वतीदेवी जी धर्मपत्नी
ला० महतावसिंह जी रईस हांसी ... ... २५)

(२७) ला० घासीराम जी सर्राफ रोहतक ... ... १०)

मन्त्री—
जैन एसोसिएशन रोहतक

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ का नाम पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय है—वास्तव में यह "यथा नाम तथा गुणः" युक्ति के अनुसार पुरुष अर्थात आत्मा के अर्थ प्रयोजन की सिद्धि के उपाय, तथा जैन सिद्धान्त के गूढ़ रहस्यों का भण्डार है। मिथ्या श्रद्धान को नष्ट कर अपने आत्मा के स्वरूप में स्थिर होना पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है—अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही पुरुषार्थ सिद्ध उपाय है जैसा इस ग्रन्थ के कर्त्ता अचार्यवर श्रीमद् अमृतचन्द्र जी ने गाथा नं० ९ से १६ में प्रगट किया है।

वैसे तो इस ग्रंथ में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र का स्वरूप एक निराले ही ढङ्ग से वर्णन किया गया है। परन्तु पूज्यवर आचार्य ने हिंसा अनृत स्तेय अब्रह्म परिग्रह पांचों ही पापों को निहायत खूबी के साथ हिंसारूप सिद्ध किया है। वास्तव में अहिंसा धर्म के सम्बन्ध में यह अपनी कोटी का एक अनूठा ही ग्रंथ है।

श्रीमद् अमृतचन्द्र जी विक्रम की दशमी शताव्दी में हुए हैं आप अपने समय के एक उच्च-कोटी के विद्वान थे। पट्टावलियों से जान पड़ता है कि जिस नंदिसङ्घ के आचार्यों में प्रातः स्मरणीय परम पूज्य आचार्य श्रीकुन्दकुन्द स्वामी हुए हैं आपने भी उसी संघ को बहुत समय तक सुशोभित किया। श्रीकुन्दकुन्द स्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार पर आपकी परमोत्तम टीकायें मिलती हैं। इससे आपकी विद्वत्ता, आपका सङ्घ वात्सल्य, तथा श्रद्धाभाव का भी भली भांति परिचय मिल जाता है। आपकी सब टीकायें अत्यन्त बोधगम्य, भाव व्यञ्जक और प्रमाणीक गिनी जाती हैं।

पुरुपार्थ सिद्ध्युपाय ग्रंथ की भाषा टीकायें कई हैं। परन्तु मैं ने उनमें से स्वर्गीय पं० टोडरमल जी तथा दौलतराम जी कृत और पं० नाथूराम जी प्रेमी कृत टीकाओं को ही पढ़ा है। पं० टोडरमल जी की टीका को मैं ने रोहतक जैन मंदिर सराय मोहल्ला की शास्त्र सभा में नवम्बर सन् १९२९ से फर्वरी सन् १९३० तक पढ़कर सुनाया। उस समय इस ग्रन्थ को पढ़कर जैन सिद्धांत के रहस्य का बड़ा

भारी प्रभाव मेरे तथा सभासदों के चित्त पर पड़ा। जिस दिन सभा में यह ग्रंथ समाप्त हुआ, तो श्रोतागण को नियम प्रतीज्ञा दिलाते हुए मैं ने स्वयं यह नियम किया, कि मैं इस ग्रन्थ की टीका को आजकल की सरल और साधारण भाषा में रूपान्तर करने का प्रयत्न करूंगा। पश्चात् अपने धर्म प्रेमी और अनुभवी मित्र बा० लालचन्द जी B.A. LL. B. ऐडवोकेट तथा बा० नानकचन्द जी B.A. LL. B ऐडवोकेट से इसके सम्बन्ध में बातें हुईं तो उनकी भी यही सम्मति ठहरी कि मूल श्लोक देकर उसके नीचे अन्वयार्थ दिये विना भावार्थ ही सरल भाषा में लिख दिया जावे तो यह बड़ा उपयोगी होगा। इससे वे अंग्रेजी पढ़े लिखे विद्वान तथा स्कूलों और कालिजों में पढ़ाये जाने वाले छात्रगण, तथा वे भाई जो संस्कृत नहीं जानते और जिनको हिन्दी भाषा का भी साधारण ज्ञान है लाभ उठा सकेंगे। इसी आशय को लेकर इस ग्रंथ को यह रूप देने का प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ में मुख्यता गृहस्थाचार का ही वर्णन किया गया है और जो थोड़ा बहुत यतियों के आचार का वर्णन किया है वह भी गृहस्थाचार के ही प्रयोजन से किया गया है ताकि गृहस्थ भी अपनी योग्यता व शक्ति का विचार करके उसको ग्रहण करे और अपना कर्त्तव्य जान उसका एकदेश पालन करें। यद्यपि मूलग्रन्थ में श्रावक की एकादश प्रतिमाओं का वर्णन नहीं है तथापि इसमें पाठकों के सुभीते के लिये ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप भी संक्षिप्त रीति से बतला दिया गया है। दश लक्षण धर्म तथा बाईस परिषहों का वर्णन करते हुए स्वर्गीय कविवर भूधरदास जी कृत पार्श्व पुराण में से और बारह भावनाओं का स्वरूप लिखते हुए स्वर्गीय पं० दौलतराम जी कृत छहढाला में से छन्द भी उद्धृत कर दिये हैं। जिससे उनका वर्णन जरा रोचक प्रतीत हो।

यद्यपि मूलग्रन्थ में सम्पूर्ण व्रतों का वर्णन कर चुकने के पीछे सब व्रतों के अतीचार बताये हैं पर हमने पाठकों की सुगमता के लिये प्रत्येक व्रत के अतीचार की गाथा लक्षण के साथ ही देदी है और गाथा का नम्बर वही रक्खा है जो मूलग्रंथ की है।

इस टीका को लिखने के बाद मैंने इसे अपने परम हितैषी श्री जैनधर्म दिवा-

कर जैनधर्म भूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के पास संशोधन के लिये भेजा— उन्हों ने कृपाकर अपना बहुमूल्य समय देकर इसे आद्योपांत देखकर हमें उपकृत किया इसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

मैं विद्वान नहीं हूं। मैं ने इस ग्रंथ के सम्बन्ध में कोई भी बात अपनी ओर से नहीं लिखी है, केवल भक्तिभाव और जिन वाणी प्रचार से ही प्रेरित होकर इस ग्रन्थ को इस रूप में लिखा है, यदि कोई त्रुटि व अशुद्धि हो तो विशेषज्ञ मुझे बुद्धि हीन तथा अल्पज्ञ जान क्षमा करें और पाठ को संशोधित कर पढ़ें।

मैं अपने मित्र बा० लालचन्दजी तथा बाबू नानकचंदजी रोहतक का भी आभारी हूं जिनकी सत्सङ्गति तथा प्रेरणा से मुझे इसके लिखने का अवसर प्राप्त हुआ। श्रीमान् पं० नाथूराम जी प्रेमी की टीका को इस ग्रन्थ के लिखने में मैंने खूब ही स्वतन्त्रता पूर्वक काम में लिया है इसके लिये हम उनके चिरऋणी रहेंगे।

अंत में अपने परममित्र श्रीमान् पं० अजितप्रसाद जी M. A., LL. B. ऐडवोकेट, (जिनकी समाज सेवा तथा धर्म प्रेम से समाज भली भांति परिचित है) को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता हूं। कि जिन्होंने अपने बहुमूल्य समय की परवाह न कर इस ग्रंथ को छपवाने का पूरा भार अपने ऊपर लिया तथा शिक्षाप्रद प्राक्कथन लिखकर ग्रंथ के महत्व को बढ़ाया।

उन उदार जिनवाणी भक्त महानुभावों का भी अति आभारी हूं कि जिन्होंने उदारता पूर्वक अपना द्रव्य देकर इस ग्रंथ के प्रकाशन में हाथ बटाया है—उनके शुभ नामों की सूची ग्रंथ में लगादी है।

रोहतक
श्रुतपञ्चमी २४५९

उग्रसेन जैन (गोहाना निवासी)
B. A, L L. B., वकील, रोहतक

विषयानुक्रमणिका

शुद्धाशुद्धि पत्र (Errata)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	भाषनुवाद	भाषानुवाद
१	४	एडवोकेट	वकील
३	१८	भी	ही
३	२३	ह	वह
४	३	अङ्गों के	अङ्गों को
४	१३	वैद्ध	वौद्ध
४	१८	अथंचित्	कथंचित्
४	२३	नास्तिक	नास्ति
५	१२	रूपोद्ध्रियते	रुपोंद्धियते

नोट—१२ पंक्ति से आगे जो नोट दिया हुवा है वह १० वीं पंक्ति से आगे गाथा नं० ३ से पहिले पढ़ना चाहिये।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१६	अद्वीय	अद्वितीय
८	३	दीखाता	दिखाता
८	३	पुद्गल की	पुद्गल का
८	२१	प्रश्न यदि	प्रश्न—यदि
९	१५	किय	किया
११	२०	हो	ही
११	२२	उत्त्थानिका	उत्थानिका
१२	२	विर्वर्जितः	विवर्जितः
१२	३	व्याख्नाय	व्याख्यान
१३	६	वाधित	अवाधित
१३	१३	स्वाभाव	स्वभाव
१३	१६	परिणामन	परिणमन
१५	४	व्यजन	व्यंजन
१५	९	सौने	सोने
१५	७–२३	सौने	सोने
१५	१४	परिणाममानो	परिणममानो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२	१२	को सुनाकर	को न सुनाकर
२८	१२	भोग	योग
३१	८	शुद्धोपयोगी	शुद्धोपयोग
३३	१	रहति	रहित
३३	२	ऐश्चर्य	ऐश्वर्य
३४	१५	विषयक, पापों	विषयकषायों
३६	६	आ जाता है	आ जाते हैं
३६	११	प्रमाद्विशिष्ट है	प्रमाद्विशिष्ट नहीं है
३६	८	स्थार्थ	स्वार्थ
३७	२२	रत्नमय	रत्नत्रय
३८	१-४	की अतिशय	का अतिशय
३८	५	होती है	होता है

४० ३ री पं० से पहिले सम्यक्दर्शन के अतिचार की गाथा नं० १८२, पढ़नी चाहिये "शंका तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्य दृष्टानाम्। मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टे रतीचाराः ॥१८२॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०	२३	जनना	जानना
४०	२४	नाज्ञ	ज्ञान
४१	२१-२३	मन पर्य्याय	मन पर्य्यय
४५	२	उस को	उस की
४५	१८	पर्य्यार्थिकनय	पर्य्यायार्थिक नय
४८	१८	ऽध्यवसाय	ऽध्यवसायः
४९	२	डांवाडाल	डांवा डोल
५१	१८	सम्यग्देशं	सम्यग्व्यपदेशं
५२	११	पर भी	पर ही
५४	२४	हिंसेते	हिंसेति
५५	५	विभाव भावों का	विभाव भावों की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८	६	तमेवं	तमेव
५९	३	परिणम	परिणाम
६०	९	करोतिर्हिंसा	करोति हिंसां
६३	३	करने वाले से	करने से
६७	५	स्तोकेकेन्द्रिय	स्तोकैकेन्द्रिय
६७	६	विरमाणमपि	विरमणमपि
६९	२३	पूज्यनिमित्त	पूज्यनिमित्तं
६९	२३	छगादीनां	छागादीनां
६९	२४	संज्ञपनस्	संज्ञपनम्
७०	२०	जाविरहरणेन	जीवहरणेन
७२	१८	साधनं	साधन
७६	२०	पदपरमपि	यदपरमपि
७९	६	घात ही	घात भी
८१	१०	तद्ब्रह्म	तद्ब्रह्म
८४	१०	परिग्रह को	परिग्रह का
८६	१	केवल	केवली
८७	२०	परिग्रहण	परिग्रह
९०	२४	वासरभुकें	वासरभुक्ते
९.	१६	साधारण राग भाव भाव	साधारण राग भाव
९४	२३	इस	इस के
९५	६	वन्ध	बन्ध
९६	५	उपकारणों	उपकरणों
१००	१२	व्याग्रता	व्यग्रता
१००	२३	चतुर्दशी को	चतुर्दशी के
१०३	१	तथोत्सार्गः	तथोत्सर्गः
१०३	१७	भोगोपभोग परिमाण शिक्षा व्रत	भोगोपभोग-भोग परिमाण शिक्षा व्रत
१०५	३	सकन्ध	स्कन्ध
१०६	१६	नियमरूप किसी	किसी
१०८	१६	दोन देना	दान देना
१०९	४	रत्नवृषि	रत्नवृष्टि
११२	२१	ऽवश्येमहं	ऽवश्यमहं
११४	४	नीयन्तेऽक्ष	नीयन्तेऽत्र
११५	३	संमय	संयम
११५	४	ऐसा वन	ऐसा चिंतवन
११५	१०	सन्यास	सन्यासार्थी
११५	२१	प्रायश्चितोक्त	प्रायश्चित्त आदि शास्त्रोक्त
११५	२३	यचना	याचना
११६	७	अत्यन्त	अत्यन्त
११६	१३	वैरारग्य	वैराग्य
११७	४	याद कराना	याद करना
१२०	१९	के के	के
१२१	१	बैठ कर	खड़े होकर
१२१	११	जता है	जाता है
१२२	२	चारित्रान्तर भावात्	चारित्रान्त-र्भावात्
१२२	३	समाहितस्वान्तै	समाहितस्वान्तैः
१२२	१९	अनशनमदौर्य्यं	अनशनमवमौदर्य्यं
१२४	७	भी भेद है	भी दो भेद हैं
१२५	१९	आचारण	आचरण
१२५	२०	व्युत्सर्गा	व्युत्सर्ग
१२६	३	प्रात्याख्यान	प्रत्याख्यान
१२६	२३	निक्षेपोत्सर्गः	निक्षेपोत्सर्गाः
१२८	१९	चिन्मामणि	चिन्तामणि
१३०	९	अतिन्द्रय	अतिन्द्रिय
१३१	१८	संयमपाना	संयमपालना
१३५	९	बहु। होई	बहुहोई।
१३५	१९	सुनदारा	सुतदारा
१३६	१२	और विष	और मल
१३७	२३	अनुभव वचन	अनुभय वचन
१३८	१	आहारिक	आहारक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३८	११	निज काज काज	निज काज
१३८	१४	कर्मों की	कर्मों को
१३९	८	मूख	भूख
१४१	३	दुखव्याधि संयमनम्	दुखव्याधि मङ्गमलम्
१४१	८	नग्न्यारति	नाग्न्यारति
१४१	१६	कर्मों का	कर्मों की
१४२	१६	पारण	पारणा
१४३	१९	ठण्डा हवा	ठण्डी हवा
१४८	९	नरकों का	नरकों की
१५२	१०	तिर्यंग	तिर्यंच
१५४	१३	दर्शमोहनी	दर्शनमोहनी
१५५	११	उनका	उनको
१५७	२	राग	राग है
१५९	१८	मार्ग	मार्ग है
१५५	१७	विकलमवि	विकलमपि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५७	१	नोट—जिस अंश से "सम्यक् चारित्र है उस अंश से आत्मा के वंध नहीं" पहली पंक्ति में यह पाठ और पढ़ना चाहिये।	
१५७	८	प्रकाश	अवकाश
१५८	२	लोप	लोय
१५८	३	औदारेक	औदारिकादि
१६२	१९	१ मुहूर्त्त	अन्तर मुहूर्त्त
१६३	१९	मिथ्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टि के
१६३	२१	१०७	११७
१६४	९	चरित्रं	चरित्रे
१६४	२४	मनहोर	मनोहर
१६५	१९	संसार वार	संसार खार
१६५	२२	वरणये	परणये
१६६	११	उस से	उस समय
१६८	९	भगवान	भगवान की

श्री अमृत चन्द्र आचार्य कृत संस्कृत

"पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" ग्रन्थ का हिन्दी भाषनुवाद

अर्थात्

श्रीयुत् उग्रसेन, एम.ए.,ऐडवोकेट, रोहतक, द्वारा, सम्पादित

भाषा-पुरुषार्थ सिद्ध्युपायः।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्त पर्यायैः ।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलाति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

भावार्थ—वह शुद्ध चेतनामई परम ज्योति जयवन्ती होवे, जिसमें कि जगत् के जीवादिक समस्त ही पदार्थ अपने अपने आकार, गुण तथा अतीत अनागत बर्तमान सम्बन्धी पर्यायों सहित, ठीक उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे कि शीशे में घटपट आदिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।

शीशे के इस दृष्टान्त में विशेषता यह है कि शीशे में ऐसी अभिलाषा नहीं है कि मैं इन पदार्थों को प्रतिबिम्बित करूं, या जैसे लोहे की सूई चुम्बक पत्थर के समीप स्वयं ही जाती है वैसे शीशा अपने स्वरूप को छोड़कर पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने के लिये उनके पास नहीं जाता है और न ही वे पदार्थ अपने निज स्वरूप को छोड़ उस शीशे के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं। या जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे पुरुष को

कहे कि हमारा अमुक कार्य करो ही करो,तैसे वे पदार्थ अपने प्रति-बिम्बित होने के वास्ते शीशे से कोई प्रार्थना भी नहीं करते हैं। सहज स्वभाव से ही ऐसा सम्बन्ध है कि जैसा जिस पदार्थ का आकार होता है। वह उस रूप हो कर ही शीशे में प्रतिबिम्बित होता है। उसके प्रतिबिम्बित होने से शीशा यह नहीं मानता कि यह पदार्थ मेरे लिये भला है,उपकारी है,राग करने योग्य है,या यह पदार्थ मेरे लिये बुरा है, अपकारी है,द्वेष करने योग्य है,शीशे के लिये तो सबही पदार्थ समान हैं। ठीक इसी प्रकार जैसे शीशे में कितने ही घटपट आदिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं,ज्ञानरूपी शीशे में समस्त जीवादिक पदार्थ प्रति-बिम्बित होते हैं। ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय नहीं जो ज्ञान में न आया हो। ऐसी शुद्ध चैतन्य परम ज्योति की सर्वोत्कृष्ट महिमा स्तुति करने योग्य है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि गुण का स्तवन किया, किसी खास गुणी का नाम लेकर स्तवन क्यों नहीं किया ? चाहिए तो यह कि पहिले गुणी का नाम लेवें और फिर उसके गुण वर्णन करें। तिसका उत्तर,आचार्य ने प्रथम ही गुण का स्तवन करके अपनी परीक्षा प्रधानता प्रकट की है। भव्य पुरुष दो प्रकार के होते हैं एक तो आज्ञाप्रधानी और दूसरे परीक्षाप्रधानी। जो जीव कुल परम्परा से चले आए मार्ग के अनुसार देव, गुरु उपदेश को ज्यों का त्यों प्रमाण कर, विनय आदि क्रिया रूप प्रवर्तते हैं वे आज्ञाप्रधानी कहलाते हैं। जो पहिले अपने सम्यक् ज्ञान द्वारा स्तुति करने योग्य गुण का निश्चय कर लेते हैं और फिर जिसके अन्दर वह गुण पाया जावे उसके प्रति विनय आदि क्रिया रूप प्रवर्तते हैं वे परीक्षा प्रधानी कहलाते हैं। कोई पद अथवा कोई खास भेष या स्थान पूज्य नहीं होता है। पूज्य तो गुण ही है। इस लिये आचार्य ने यहाँ यह निश्चय किया कि शुद्ध चेतना प्रकाश रूप गुणही

पहिले स्तुति करने योग्य है। जिसके अन्दर ऐसा गुण पाया जावे वह फिर सहज ही स्तुति करने योग्य हो जाता है। गुण द्रव्य के ही आधीन होता है, द्रव्य गुणों से जुदा कोई चीज नहीं है। निश्चय पूर्वक विचार करने पर यह बात सिद्ध होती है कि यह परम शुद्ध चेतना प्रकाश रूप पूर्ण गुण केवल अरहन्त तथा सिद्ध परमेष्टी में ही पाया जाता है। इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्र आचार्य जी ने इस शुद्ध चेतना गुण का स्तवन करके अपने इष्टदेव का ही स्तवन किया है।

आगे आचार्य एकान्तपक्षरहित स्यादद्वाद (अनेकान्त) को नमस्कार करते हैं—कोई तर्क करे कि जिनागम को नमस्कार करना चाहिए था स्याद्वाद को क्यों नमस्कार किया ? तो।

परमागमस्य वीजं निषिद्ध जात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकल नय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

उत्तर में आचार्यवर कहते हैं कि जिस स्याद्वादको हमने नमस्कार किया है वह परम उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का वीज या जीव मूल है— जैसे शरीर जीव सहित ही कार्यकारी होता है, जीव बिना मृतक शरीर किसी भी काम का नहीं होता। जैन सिद्धान्त वचनात्मक है और वचन क्रमवर्ती है। अन्य मतावलम्बी जो भी कथन करते हैं, एक नय की प्रधानता को लिए हुवे भी करते हैं, परन्तु जैन सिद्धान्त सर्वत्र स्याद्वाद से व्यापक है, अर्थात् एकान्त अर्थ से रहित अनेकान्त रूप है। जहाँ एक नय की प्रधानता होती है, वहां दूसरी नय की अपेक्षा होती है। इसी कारण जैन सिद्धान्त जीव के लिए कार्यकारी है और अन्यमत एकान्त पक्ष के कारण कार्यकारी नहीं। यदि कोई जैनागम के उपदेश को भी अपनी अज्ञानतावश अनेकान्त रहित श्रद्धान करता है तो ह विपरीत फल को ही प्राप्त करता है। स्याद्वाद (अनेकान्त) एकान्त

श्रद्धान का निषेध कर सर्वांग वस्तु के वास्तविक स्वरूप को निश्चय कराने वाला है। दृष्टान्त—जैसे बहुत से जन्मान्ध पुरुष मिले, उन्होंने एक हस्ती के विविध अङ्गों के अपनी २ स्पर्शनइन्द्रिय द्वारा निश्चय किया, नेत्र बिना सर्वांग हस्ती को न जाना; हस्ती के स्वरूप को अपने २ निश्चय के अनुसार अनेक प्रकार बता कर आपस में बाद करने लगे तब एक नेत्रवान पुरुष वहाँ आया उसने यथावत् हस्ती के स्वरूप का निर्णय कर उनकी भिन्न २ कल्पनाओं को दूर किया। ठीक इसी प्रकार एकान्तवादी एक ही वस्तु के अनेक अंगों को अपनी २ बुद्धि द्वारा जुदे जुदे अन्य अन्य रीति से निश्चय कर बैठते हैं, सम्यक ज्ञान बिना सर्वांग वस्तु को नहीं जानते हैं। तब एक सम्यक-ज्ञानी स्याद्वाद विद्या के द्वारा यथावत् वस्तु का स्वरूप निर्णय कर उनकी भिन्न २ कल्पनाओं को दूर करता है। सांख्यमती वस्तु को कूटस्थ नित्य ही मानते हैं, बैद्ध-मती क्षणिक मानते हैं। स्याद्वादी कहते हैं कि यदि वस्तु सर्वथा नित्य ही है, तो अनेक पर्य्यायों की पलटन उस में क्यों और कैसे होती है ! यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही मानलिया जावे तो 'यह वस्तु वही है जो पहिले देखी थी' ऐसा प्रत्यभिज्ञान फिर कैसे हो ! इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त सर्वथा एकान्तवाद का निषेध कर निर्णय करता है कि अथंचित्, द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य भी है, और कथंचित पर्याय की अपेक्षा वस्तु क्षणिक भी है। स्याद्वाद एकान्त श्रद्धान का निषेध कर सर्वांग वस्तु का निर्णय करता है। स्याद्वाद समस्त नयों के द्वारा प्रकाशित जो वस्तु का स्वभाव उनके परस्पर विरोध को दूर करने वाला है।

नय विवक्षा से वस्तु में अस्ति, नास्तिक एक, अनेक, भेद, अभेद, नित्य, अनित्य आदिक अनेक स्वभाव पाए जाते हैं। जिनमें परस्पर

विरोध मालूम पड़ता है। जैसे अस्ति नास्ति में प्रतिपक्षीपना पाया जाता है, परन्तु जब इन्हीं स्वभावों को स्याद्वद द्वारा बतलाया जाता है, तो सब विरोध दूर हो जाता है, क्योंकि एक ही पदार्थ कथंचित्, स्वचतुष्टय (अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की अपेक्षा अस्तिरूप है; कथंचित्, परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है। समुदाय की अपेक्षा एक रूप है; कथंचित् गुण पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप है। कथंचित् संज्ञा, संख्या, लक्षण की अपेक्षा गुण पर्य्यायादि अनेक भेद रूप है। कथंचित् सत्व की अपेक्षा अभेद रूप है। कथंचित् द्रव्य की अपेक्षा नित्य, कथंचित पर्य्याय की अपेक्षा अनित्य हैं। इस प्रकार स्याद्वाद सर्व विरोध को दूर करने वाला है।

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोयं ॥३॥

नोट-(स्याद्वद = स्यात् कथंचित नय अपेक्षा द्वारा + वाद = वस्तु स्वरूप का कथन करना)

अपने इष्ट देव तथा परमागम को स्तवन करने के पश्चात् आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं, कि अब हम तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने वाले अद्वीय नेत्र परमागम को, अनेक उपायों द्वारा सावधानता पूर्वक परंपराय जैनसिद्धान्त के अनुसार निरूपण कर के, ज्ञानी जनों के हित के अर्थ, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय (चैतन्य पुरुषके प्रयोजन सिद्ध होने का उपाय) नामा ग्रन्थ कहेंगे। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ में केवली, श्रुतकेवली तथा आचार्यों की परंपरा को विचार कर ही उपदेश किया जावेगा स्वमति कल्पित रचना कोई भी नहीं हैं।

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

प्रथम ही वक्ता तथा उपदेश दाता का लक्षण कहते हैं। इस लोक

में धर्म तीर्थ के प्रवर्तावनेवाले आचार्य होते हैं। उपदेश दाता आचार्य में अनेक गुणों का होना जरूरी है, परन्तु उन सब में मुख्य व्यवहार और निश्चय नय का ज्ञान है; क्योंकि जीवों में जो अनादि काल से अज्ञान भाव चला आता है, वह मुख्य कथन और उपचार कथन के ज्ञान से ही दूर होता है। मुख्य कथन तो निश्चयनय के आधीन है-

निश्चयनय-'स्वाश्रितोनिश्चयः'—जो अपने ही आश्रय होता है उसे निश्चयनय कहते हैं। जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो भाव पाये जावें उस द्रव्य में उन का ही स्थापन कर, परमाणु मात्र भी अन्य कल्पना नहीं करने का नाम स्वाश्रित है। इस निश्चयनय के कथन को ही मुख्य कथन कहते है। इसके ज्ञान से, शरीरादिक परद्रव्यों के साथ अनादि से एकत्व श्रद्धानरूप अज्ञान का अभाव होता है, भेद-विज्ञान की प्राप्ति होती है, सर्व परद्रव्यों से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य-स्वरूप का अनुभव होता है। इस अनुभव अवस्था में ही जीव पर-मानन्द दशा में प्राप्त होकर केवल ज्ञान दशा की प्राप्ति करता है। जो अज्ञानी जीव इसके बिना समझे धर्म में लवलीन होते हैं वे शरीरा-श्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय, ग्रहण करने योग्य, जान कर संसार के कारण अशुद्धोपयोग को ही मुक्ति का कारण मान लेते हैं और निज शुद्ध स्वरूप से भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करते हैं। इसलिए मुख्य कथन का जानना निश्चयनय के आधीन है, इस का ज्ञान उपदेश दाता के लिये परमावश्यक है क्योंकि जो आप ही अनभिज्ञ होता है वह अपने शिष्यों को किसी प्रकार भी नहीं समझा सकता है।

व्यवहारनय-'पराश्रितो व्यवहारः'-अर्थात् जो परद्रव्य के आश्रय होता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं। पराश्रित—कुछ थोड़ा सा भी कारण पाकर किसी द्रव्य का भाव किसी द्रव्य में समावेश करने का

नाम पराश्रित है। व्यहारनयका कथन ही उपचार कथन कहलाता है, इस के ज्ञान से जीव शरीरादिक सम्बन्धरूप संसार दशा को जान संसार के कारण आस्त्रव तथा बन्ध के स्वरूप को पहिचान कर, संसार से मुक्त होने के उपाय संवर तथा निर्जरा में लगता है। जो अज्ञानी जीव इस को जाने बिना केवल शुद्धोपयोगी होना चाहते हैं वे पहले ही व्यवहार साधन को छोड़ पाप के आचरण में लीन हो, नरकादिक के अनेक दुःख, संकटों में पड़ जाते हैं। इस प्रकार उपदेशदाता के लिये उपचार कथन का जानना भी परमावश्यक है। सारांश यह है कि निश्चय तथा व्यहार दोनों नयों के जानने वाले आचार्य ही धर्म तीर्थ के प्रवर्तक हुआ करते हैं, और नहीं।

निश्चयमिहभूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

आचार्य इन दोनों नयों में से निश्चय नय को **भूतार्थ** और व्यवहार नय को **अभूतार्थ** कहते हैं।

भूतार्थ–(भूत, जो पदार्थ में पाये जावें+अर्थ=भाव)। भूतार्थ नाम सत्यार्थ का है, जो भाव किसी पदार्थ में पाये जावें उनको ज्यों का त्यों प्रकाश करने और अन्य किसी प्रकार की भी कल्पना न करने को भूतार्थ कहते हैं। सत्यवादी कल्पना से कुछ नहीं कहा करते; वह सत्य ही कहा करते हैं। जैसे–यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध चला आता है और दोनों मिले हुए दीखते हैं तथापि निश्चय नय आत्म द्रव्य को शरीरादिक पर द्रव्यों से भिन्न ही प्रकाश करता है और यही भिन्नता मुक्त दशा में प्रकट होती हैं, इस वास्ते निश्चयनय ही भूतार्थ अथवा सत्यार्थ है। **अभूतार्थ**–नाम असत्यार्थ का है। जो भाव पदार्थ में न पाए जावें उन्हें अनेक प्रकार

की कल्पना करके प्रकाश करने को अभूतार्थ कहते हैं;जैसे कोई असत्यवादी जरा से भी कारण का बहाना पाकर अनेक कल्पना करके असदृश को सदृश कर दीखाता है;जैसे यद्यपि जीव और पुद्गल की सत्व (मौजूदगी) भिन्न २ है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि एक क्षेत्रावगाह का बहाना पाकर आत्मद्रव्य को शरीरादिक परद्रव्यों से एकत्वरूप कहता है, इस वास्ते व्यवहारनय अभूतार्थ असत्यार्थ है। आत्मा का परिणाम निश्चयनय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीरादिक परद्रव्यों से एकत्वरूप प्रवर्तन करता है,इसको ही संसार कहते हैं इस से जुदा संसार कोई पदार्थ नहीं है। इस लिए जो जीव संसार से मुक्त होना चाहते हैं उनको शुद्ध नय के सन्मुख रहना योग्य है। जैसे कोई पुरुष ऐसे जल को पीता है जिस का निर्मल स्वभाव कीचड़ के संयोग से आच्छादित हो गया है, अर्थात् गदले जल को पीता है,और कोई दूसरा पुरुष अपने ही परिश्रम द्वारा उस गंदले जल में फटकरी डाल कर जल और कीचड़ को जुदा २ कर देता है, और इस प्रकार शुद्ध किये हुवे निर्मल जल को आस्वादन करता (पीता) है। ठीक इसी प्रकार बहुत से अज्ञानी जीव, कर्म संयोग से, जिन का ज्ञान स्वभाव ढक गया है, ऐसी अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं,और कई एक अपनी बुद्धि से शुद्ध निश्चय नय के स्वरूप को जान,कर्म और आत्मा को जुदा २ कर देते हैं और फिर ऐसे निर्मल शुद्धात्मा का स्वानुभवरूप आस्वादन करते हैं। शुद्धनय कतक फल(निर्मली) के समान है, इस के श्रद्धान से सर्वसिद्धि होती है। प्रश्न यदि ऐसा है, तो फिर आचार्य व्यवहार का उपदेश क्यों करते हैं।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरादेशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

इसका उत्तर यह है कि अनादि काल के अज्ञानी जीव व्यवहारनय के उपदेश बिना वस्तु के स्वरूप को समझ नहीं सकते, इस वास्ते आचार्य उनको व्यवहारनय के द्वारा ही समझाया करते हैं। उदाहरण, जैसे किसी म्लेच्छ को एक ब्राह्मण ने स्वस्ति शब्द कह कर आशीर्वाद दिया, वह म्लेच्छ कुछ न समझा, और ब्राह्मण की ओर देखने लगा। तब वहां एक द्विभाषिया (Interpreter) आगया और उसने म्लेच्छ को उस की भाषा में समझा दिया कि पंडित जी कहते हैं 'कि तुम्हारा भला हो' तब उसने आनन्दित हो उस आशीर्वाद को अङ्गीकार किया।' ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीव को आचार्य ने 'आत्मा' शब्द कह कर उपदेश दिया, वह अज्ञानी कुछ न समझा और आचार्य की ओर देखने लगा, तब व्यवहार तथा निश्चय दोनों नयों के जानने वाले आचार्य ने व्यवहारनय द्वारा, भेदानुभेद करके उसे बतलाया, कि यह जो देखने वाला, जानने वाला और आचरण करने वाला पदार्थ है, यह ही आत्मा है। तब उस अज्ञानी ने परम आनन्दित हो आत्मा का निज स्वरूप अङ्गीकार किय। यह सद्भुत व्यवहारनय का उदाहरण है। आगे असद्भुत व्यवहारनय का उदाहरण देते हैं। घी से भरे हुवे मिट्टी के घड़े को व्यवहार में घी का घड़ा कहते हैं,और कोई पुरुष जन्म से ही उसे घी का घड़ा जानता है, यहाँ तक कि वह उसे बिना 'घी का घड़ा' कहे समझ ही नहीं सकता। मिट्टी का घड़ा कहने से भी नहीं समझ सकता। और कोई दूसरा पुरुष उसे कोरे घड़े के नाम से ही समझ लेता है, यथार्थ में विचारा जावे तो वह घड़ा मिट्टी का ही है, केवल उसको समझाने के लिये ही घी का घड़ा कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्म जनितपर्य्याय संयुक्त है, उसे व्यवहार में देव मनुष्य

इत्यादिक स्वरूप ही जानते हैं। कोई उनको, यदि उस आत्मा को देव, मनुष्य कह कर समझावे तो समझ जावें और यदि अकेला चैतन्य स्वरूप कह कर समझावें तो ठीक न समझे और कदाचित् समझें तो किसी पर-ब्रह्म-परमेश्वर को समझ लेवें। निश्चयपूर्वक विचारा जावे तो आत्मा चैतन्य रूप ही है, परन्तु अज्ञानियों के समझाने के लिये आचार्य गति, जाति आदि भेद द्वारा ही जीव का निरूपण करते हैं, इस प्रकार आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान प्राप्त कराने के लिये ही व्यवहार का उपदेश दिया करते हैं।

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

आगे केवल व्यवहार नय के श्रद्धान होने का ही कारण बतलाते हैं। जैसे जो बालक सिंह और बिल्ली दोनों को ही नहीं जानता और बिल्ली को ही सिंह मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञानी निश्चय स्वरूप को न पहिचान, व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है। अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरण रूप मोक्षमार्ग को न पहिचान, केवल व्यवहार दर्शन, ज्ञान चारित्र का ही साधन कर अपने आप को मोक्ष का अधिकारी मान बैठता है, अर्थात् अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म का ही श्रद्धान कर अपने आप को सम्यक्ती मानने लग जाता है, थोड़ी सी जिन बाणी को जान अपने को ज्ञानी मान लेता है और व्रतादिक क्रियाओं का साधन कर अपने आप को चारित्रवान मानने लग जाता है। इस भांति अज्ञानी जीव इस शुभोपयोग में ही सन्तुष्ट होकर शुद्धोपयोग रूप मोक्ष मार्ग में प्रमादी हो जाते हैं, और इस ही कारण केवल व्यवहार नय के ही अवलम्बी हो जाते हैं। इन को जिन बाणी का उप देश स-

फल नहीं होता है अर्थात् वे मोक्षमार्ग न पाकर भटकते ही रहते हैं। यहाँ प्रश्न होता है, कि यदि ऐसे श्रोता उपदेश का लाभ नहीं पाते तो कैसे-गुण-संयुक्त श्रोता पाते हैं ?

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

श्रोताओं में अनेक गुण होना चाहिए परन्तु उन सब में व्यवहार निश्चय को जान करके एक पक्ष का हठग्राही न होना मुख्यगुण है। उक्तंच गाथा। जइ जिणमयं पठिज्जह तोमा ववहार निच्छयं मुंच। एकेण मिण छिज्जई, तित्थं अणेण तच्चं च ॥ अर्थात् जो तू जिन मत में लगता है, तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़, जो निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का अभाव हो जावेगा। और जो व्यवहारका पक्षपाती होकर निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्ध तत्त्व स्वरूप का अनुभव न होगा। इस वास्ते पहिले व्यवहार निश्चय को भली भांति जान, पीछे यथा योग्य अङ्गीकार करना, पक्षपाती न होना, यह उत्तम श्रोता का लक्षण है। यहाँ यदि कोई कहे कि जो गुण निश्चय व्यवहार का जानना पहले वक्ता का बतलाया था, वही श्रोता का क्यों बतलाया ? इसका उत्तर यह ही है कि जो गुण वक्ता में अधिकतारूप बहुत पाये जाते हैं, वही गुण श्रोता में हीनता रूप थोड़े पाये जाते हैं। अथवा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने के लिये दोनों को हो, निश्चय व्यवहार का ज्ञान होना आवश्यक है ॥

इति उत्थानिका

ग्रन्थ प्रारम्भः

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः ।
गुण-पर्य्यय-समवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥९॥

इस ग्रन्थ में पुरुष के अर्थ की सिद्धि के उपाय का व्याख्याय किया जावेगा। पहले ही बताते हैं कि पुरुष किसे कहते हैं और उस में क्या क्या गुण होते हैं। पुरुष अर्थात् आत्मा चेतन स्वरूप है, स्पर्श, गन्ध, रस, वर्ण आदिक से रहित अमूर्तिक है। गुण पर्य्याय संयुक्त है, उत्पादव्यय, ध्रौव्य संयुक्त है।

पुरुष = पुर, उत्तम चैतन्य गुण उनमें जो+शेते, स्वामी होकर रहे, या आनन्द लेवे, उसका नाम पुरुष है। या दूसरे शब्दों में कहें, तो ज्ञान दर्शन चेतना के स्वामी का नाम पुरुष है।

(क) चेतना आत्मा का, अव्याप्ति, अति व्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषों से रहित एक असाधारण लक्षण है। जो लक्षण कहा जाता है वह यदि किसी लक्ष्य में तो पाया जावे और किसी लक्ष्य में न पाया जावे, तो वह लक्षण अव्याप्ति दूषण युक्त लक्षण कहलाता है। कोई आत्मा ऐसी नहीं जो चेतना रहित हो, इसलिये आत्मा का चेतना लक्षण अव्याप्ति दूषण से रहित है। यदि आत्मा का लक्षण रागादिक कहें तो अव्याप्ति दूषण आता है, क्योंकि रागादिक संसारी जीवों के ही पाये जाते हैं, सिद्ध जीवों के नहीं। जो लक्षण लक्ष्य में भी पाया जावे और अलक्ष्य में भी पाया जावे तो वह अति-व्याप्ति दूषण युक्त लक्षण कहलाता है। चेतना लक्षण जीव पदार्थ बिना अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं पाया जाता है। यदि आत्मा का लक्षण अमू-

र्तिक कहा जावे तो अति-व्याप्ति दूषण आता है, क्योंकि जैसे आत्मा अमूर्तिक है, वैसे ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य भी अमूर्तिक हैं। इस कारण आत्मा का चेतना लक्षण अति-व्याप्ति दूषण से भी रहित है। जो लक्षण प्रमाण द्वारा सिद्ध न हो सके उसे असंभव कहते हैं। आत्मा का चेतना लक्षण इस असम्भव दूषण से भी रहित है, क्योंकि यह लक्षण आत्मा में प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण से बाधित है। इस प्रकार आत्माका चेतना लक्षण अव्याप्ति-अति व्याप्ति और असंभव दूषणों से रहित है। यह चेतना दो प्रकार की होती है (१) ज्ञान चेतना (२) दर्शन चेतना। जो चेतना पदार्थों को विशेषता से साकार रूप जाने, उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। जो चेतना पदार्थों को सामान्यता से निराकार रूप जाने, उसे दर्शन चेतना कहते हैं। परिणामों की अपेक्षा यह चेतना तीन प्रकार की होती है। ज्ञान चेतना, कर्म-चेतना, और कर्म-फल-चेतना। जब यह चेतना शुद्ध ज्ञान स्वाभावरूप परिणमन करती है, तो ज्ञान चेतना कहलाती है। यह चेतना सम्यक्-दृष्टि के ही होती है, इस चेतना में आत्मीय गुण का अनुभव होता है। जब यह चेतना रागादिक कार्यरूप परिणामन करती है तो कर्म-चेतना कहलाती है। जब यह चेतना सुख दुःख आदि भोगनेरूप परिणामों को करती है, तो कर्म-फल चेतना कहलाती है।

कर्म-चेतना और कर्म-फल चेतना में फर्क यह है कि कर्म-चेतना में ज्ञान पूर्वक क्रियाओं द्वारा कर्म की प्रधानता है और कर्मफल चेतना में कर्म करने की प्रधानता नहीं है, कर्मफल भोगने की प्रधानता है। इस प्रकार यह चेतना अनेक स्वाँग करती है, परन्तु इस का अभाव कभी नहीं होता; अन्यथा जीव का ही अभाव हो जावे।

(ख) यह पुरुष आठ प्रकार के स्पर्श (ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना

हलका, भारी, नर्म और कठोर), दो प्रकार के गन्ध (सुगन्ध, दुर्गंध), पाँच प्रकार के रस (तीखा, कडुआ, कषायला, खट्टा, मीठा) और पाँच प्रकार के वर्ण (सफेद, लाल, पीला, नीला, काला) इत्यादि पुद्गलीक लक्षणों से रहित अमूर्तिक है। इस विशेषण से आचार्य ने पुरुष अर्थात् आत्मा की पुद्गल द्रव्य से भिन्नता प्रकट की है। यह आत्मा अनादि सम्बन्ध रूप पुद्गल द्रव्य में, अहंकार, ममकार रूप प्रवृत्ति करता है। यदि अपने चैतन्य स्वभाव को अमूर्तिक जाने तो भाव कर्म, द्रव्य-कर्म, नो-कर्म, धनधान्यादिक पुद्गल द्रव्यों में अहंकार बुद्धि कदापि न करे।

(ग) पुरुष अर्थात् आत्मा गुण पर्य्याय रूप ही है। गुणपर्य्यायों का समूह ही द्रव्य है। आत्मा द्रव्य है, इसीलिये गुण पर्य्याय सहित विराजमान है।

गुण का लक्षण सद्भूत है (सद्, द्रव्य के साथ है+भूत, सत्ता जिस की) और जो द्रव्य में हमेशा पाये जावें, उन्हें गुण कहते हैं।

आत्मा में दो प्रकार के गुण साधारण तथा असाधारण हमेशा पाये जाते हैं। ज्ञानदर्शनादिक असाधारण गुण है जो और द्रव्यों में नहीं पाये जाते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादिक साधारण गुण हैं जो और भी द्रव्यों में पाये जाते हैं।

पर्याय का लक्षण क्रमवर्त्ती है, जो द्रव्य में अनुक्रम से उपजें और कदाचित पाई जावे, उन्हें पर्याय कहने हैं।

आत्मा में पर्यायें दो प्रकार की होती हैं—(१) नर नारकादि आकृतिरूप व सिद्धाकृतिरूप व्यंजन पर्याय (२) रागादि परिमणमन रूप वा षट्प्रकार वृद्धिहानि रूप अर्थ पर्य्याय।

इन गुण और पर्य्यायों से आत्मा की तदात्मक एकता है अर्थात्

इन गुणं और पर्य्यायों से भिन्न और कोई आत्मद्रव्य नहीं है। इस विशेषण द्वारा आत्मा का विशेषपना जाना जाता है।

(घ) पुरुष अर्थात् आत्मा उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य संयुक्त है नवीन अर्थ-पर्याय तथा व्यजन-पर्याय के पैदा होने को उत्पाद कहते है। पूर्व पर्याय के नाश होने को व्यय कहते हैं और गुण की अपेक्षा या द्रव्य की अपेक्षा शाश्वतपने को ध्रौव्य कहते हैं। उदाहरण जैसे सौने के कड़े को तोड़ कर कुन्डल बनायें तो जिस समय कुन्डल बनाये, उसी समय कुन्डल की उत्पत्ति, कड़े का विनाश (व्यय) और सौने की अपेक्षा ध्रौव्य पना सिद्ध है।

इस विशेषण से आत्मा का अस्तित्व प्रकट होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि ऐसे चैतन्य पुरुष के अशुद्धता कैसे और क्योंकर हो गई?, जिस के कारण कि इसको अपने अर्थ की सिद्धि करने की आवश्यकता पड़ी।

परिणाममानो नित्यं ज्ञान-विवर्त्तैरनादि सन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥१०॥

इस आत्मा की अनादि काल से ही, रागादि परिणामों में परिणमन करने के कारण, अशुद्ध दशा हो रही है। कोई अब ही नवीन अशुद्धता इस में नहीं आई। अनादि काल से ही यह सिलसिला जारी है, कि द्रव्य कर्म से रागादिक भाव होते हैं, और उन रागादि भावों से फिर नवीन द्रव्य कर्मों का बन्ध होता है। "सुवर्ण कीटिका वत्" अर्थात् सौने और कीटिका के समान अनादि सम्बन्ध है। इस बन्ध के निमित्त से ही इस आत्मा को अपने ज्ञान स्वभाव की खबर नहीं होती है। और इसी लिये यह उदयागत कर्म पर्यायों में, इष्ट अनिष्ट भाव कर, राग, द्वेष, मोहरूप परिणामन करता है। यद्यपि इन

परिणामों का कारण द्रव्य कर्म है, तथापि यह परिणाम अर्थात् भाव-कर्म चैतन्यमय हैं। इस लिये इन का आत्मा के साथ व्याप्य व्यापक भाव होने से आत्मा ही कर्ता और भाव्य भावक भाव से आत्मा ही भोक्ता है। जिस जगह भाव्य भावक का संबन्ध घटित होता है, वहां ही भोग्य भोजक का सम्बंध भी घटित होता है, और जगह नहीं।

व्याप्य व्यापक भाव। सहचारी, और क्रमभावी नियम को व्याप्ति कहते हैं। जैसे धूएँ और अग्नि में सहचारीपना पाया जाता है, जहाँ धुआँ हो, वहाँ अग्नि ज़रूर होती है, अग्नि के विना धुआँ हो नहीं सक्ता। ठीक इसी प्रकार रागादिक भावों और आत्मा में सहचारी पना पाया जाता है। जहां रागादिक होते हैं, वहाँ आत्मा ज़रूरी होता है, बिना आत्मा के रागादिक होते नहीं। इस व्याप्ति क्रिया में कर्म व्याप्य और कर्ता व्यापक होते हैं। रागादिक भाव आत्मा के करने से होते हैं, इस लिये वे व्याप्य और उनका कर्ता आत्मा व्यापक कहलाता है। जिस जगह ऐसा व्याप्य व्यापक सम्बन्ध पाया जाता है, वहाँ ही कर्ता कर्म संबन्ध अर्थात् कार्य कारण संबन्ध संभव है।

इसी प्रकार जो भाव अनुभव करने योग्य हों उन्हें भाव्य कहते हैं, और अनुभव करने वाले पदार्थ को भावक कहते हैं। आगे दिखलाते हैं कि पुरुष की अर्थ सिद्धि क्या होती है।

सर्व विवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यकपुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

जब यह आत्मा स्वपर भेद विज्ञानद्वारा शरीरादिक पर द्रव्यों को जुदा जान लेता है तो उन में 'यह भला, यह बुरा' ऐसी बुद्धि का त्याग कर देता है; क्योंकि जो भला बुरा होता है, वह सब अपने परिणामों से ही होता है, पर द्रव्य का किया हुआ कुछ भला बुरा

नहीं होता। इसलिये प्रथम ही सर्व परद्रव्यों में रागद्वेष भावों का त्याग करना चाहिये। यदि ऐसा करने पर भी राग आदिक की उत्पत्ति होवे तो उसका विनाश करने के लिए अनुभव अभ्यास में उद्यमवान होना चाहिये। ऐसा अभ्यास होते होते जिस समय समस्त विभावों का नाश हो जावे, अक्षोभ समुद्रवत् शुद्धात्म स्वरूप में लवणवत् (नमक की भांति) लीन हो जाय, जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प न रहे, ऐसा विचार न रहे कि मैं शुद्धात्म का ध्यान करता हूँ, बल्कि आप ही तद्रात्मक वृत्ति से शुद्धात्म स्वरूप होकर निष्कम्प परिणमन करे, उस समय उस दशा में यह आत्मा कृत्य-कृत्य कहलाता है, क्योंकि जो कुछ करना था सो कर चुका, अब कुछ करना बाकी नहीं रहा। आत्मा की इसी अवस्था को पुरुषार्थ-सिद्धि कहते हैं, क्योंकि पुरुष के अर्थ अर्थात् कार्य की सिद्धि जो होनी थी सो हो चुकी। इस पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय जानने से पहले यह जानना जरूरी है कि आत्मा का पर द्रव्यों से सम्बन्ध होने का कारण क्या है?

जीव कृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्रपुद्गलाः कर्म भावेन ॥१२॥

जिस समय जीव रागद्वेष, मोह भावरूप (परिणमन) करता है, उस समय उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य आप ही कर्म अवस्था को धारण कर लेते हैं। भेद केवल इतना ही है कि यदि आत्मा देव, गुरु धर्मादिक प्रशस्त रागादि रूप परिणमन करता है तो शुभ कर्म का बन्ध होता है, और यदि अप्रशस्त राग द्वेष मोह रूप परिणमन करता है तो पाप बन्ध होता है। यहां कोई प्रश्न करे कि जीवके महा सूक्ष्मरूप भावोंकी खबर जड़ पुद्गल को कैसे हो जाती

है। नहीं तो विना खबर वे पुद्गल परमाणु पुण्य पाप रूप कैसे परिणमन करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि जैसे कोई मन्त्र साधक पुरुष किसी गुप्त जगह में बैठा हुवा मन्त्र को जपता है उसके बिना ही किये उस मन्त्र के निमत्त से किसी को पीड़ा हो जाती है, कोई प्राणान्त हो जाता है, किसी का भला होजाता है कोई पागल हो जाता है उस मन्त्र में ऐसी शक्ति है, कि उसका निमित्त पाकर चेतन अचेतन अनेक पदार्थ अनेक २ अवस्थाओं को धारण कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीव अन्तरङ्ग में विभाव भावरूप परिणमन किया करते हैं। इन विभाव भावों का निमित्त पाकर कोई पुद्गल पुण्य प्रकृतिरूप और कोई पाप प्रकृतिरूप परिणमन करता है। इस जीव के इन भावों में ही ऐसी विलक्षण शक्ति है, कि जिसके निमित्त से पुद्गल आपही अनेक अवस्थाओं को धारण कर लेते हैं। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक संबंध है। प्रश्न—इस जीव के जो विभाव भाव होते हैं, यह आप ही होते हैं या इनका भी कोई निमित्त कारण है।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्त मात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

उत्तर—इस जीव के रागद्वेषादिक विभाव भाव आप से ही नहीं होते हैं, क्योंकि यदि यह आप से ही होवें तो ज्ञान दर्शन के समान यह भी स्वभाव भाव हो जावें, और इन का कभी भी नाश न होवे। इस लिए यह भाव औपाधिक हैं, क्योंकि यह अन्य निमित्त से अर्थात् ज्ञानावरणादिक द्रव्य क़र्मों के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे २ द्रव्य कर्म उदय में आते हैं, वैसे २ ही आत्मा विभाव भावरूप परिणमन करता है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि पुद्गल में ऐसी क्या शक्ति है जो चेतनानाथ को विभाव भाव रूप परिणमन करा देती है ?

उत्तर यह ही है कि जैसे किसी पुरुष के सिर पर मन्त्र से पढ़ी हुई मिट्टी डाल दी जाती है, तो वह उस मिट्टी के निमित्त से अपने आप को भूल कर नाना प्रकार की विपरीत चेष्टायें करने लग जाता है ॥ जैसे मन्त्र के प्रभाव से मिट्टी में ऐसी शक्ति आजाती है, कि स्याने पुरुष को पागल बना देती है; ठीक इसी प्रकार यह आत्मा अपने प्रदेशों में रागादिक के निमित्त से बन्धे हुवे पुद्गल परमाणुओं के कारण अपने आप को भूल कर नाना प्रकार विपरीत भावों में परिणमन करता है। तात्पर्य यह है कि इस के विभाव भावों से पुद्गल में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो चैतन्य पुरुष को विपरीत चलाती है। इस प्रकार भाव कर्मों से द्रव्य कर्मों की उत्पत्ति होती है, और द्रव्य कर्मों से भाव कर्म उत्पन्न होते हैं। इसी का नाम संसार है।

एवमयं कर्म कृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

यह अभी बतला चुके हैं कि पुद्गल कर्मोंके कारण भूत रागादि भाव हैं और रागादि भावों का कारण पुद्गल कर्म हैं। इससे यह आत्मा निज स्वभाव भावों की अपेक्षा कर्मजनित नाना प्रकारके भावों से सर्वथा भिन्न चैतन्य मात्र वस्तु है जैसे लाल रंगके डांक (Setting) के निमित्तसे स्फटिक लाल रंगका दिखाई देने लग जाता है। यथार्थ में लाल रंग का नहीं है, स्फटिक तो वास्तव में अपने ही निर्मल सफेद रंग को लिए हुए है और लाल रंग की झलक ऊपर ही ऊपर है, जौहरी लोग जो इस बात के परीक्षक हैं वह स्फटिक रंग को भली भांति जानते हैं, परन्तु रत्न परीक्षा से अनभिज्ञ अनाड़ी लोग स्फटिक को वास्तव में रक्त-मणि वत लालरंग स्वरूप ही देखते व मानते हैं। इसी प्रकार कर्मों के निमित्त से आत्मा रागादि रूप परिणमन करता

है, परन्तु यथार्थ में यह रागादिक आत्माके निज भाव नहीं हैं, आत्मा तो अपने शुद्ध निर्मल चैतन्य गुण संयुक्तही विराजमान है। रागादिक आत्माके निज स्वभावसे भिन्न ऊपर२ ही झलक मात्र दिखाई पड़ते हैं। ज्ञानी जीव तो आत्मा के शुद्ध निर्मल स्वभाव को भली भांति जानते हैं, परन्तु जो भेद विज्ञान से शून्य हैं, उनको आत्मा रागादिक विभाव रूप ही प्रतिभासित होता है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि पहले तो आपने रागादिक भाव जीव कृत बतलाए थे, यहाँ अब उनको कर्म कृत कैसे बतलाते हो? उत्तर यह है--रागादिक भाव चेतना रूप हैं, इस वास्ते इनका कर्त्ता जीव ही है ऐसा कहा; परन्तु ये मूल भूत जीव के शुद्ध स्वभाव नहीं हैं, ये रागादिक भाव उदय प्राप्त कर्मों के निमित्त से होते हैं इस लिए इनको कर्मकृत कह दिया गया है। जैसे किसी मनुष्य के भूत आ जावे तो वह मनुष्य उस भूत के निमित्त से नाना प्रकार की विपरीत चेष्टाएं करता है। निश्चयसे उन चेष्टाओं का कर्ता तो मनुष्य ही है, परन्तु यह चेष्टाएं उस मनुष्य का निज भाव नहीं हैं भूतकृत ही कही जाती हैं। इसही प्रकार यह जीव कर्मों के निमित्त से नाना प्रकार विपरीत भावरूप परिणमन करता है। इन भावों का कर्ता तो जीव ही है परन्तु यह भाव जीव के निज स्वभाव न होने के कारण कर्मकृत कहे जाते हैं। अथवा कर्मकृत नाना प्रकार के पर्याय, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म, देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यञ्च, शरीर, संहनन, संस्थानादि भेद, व पुत्र मित्रादि, धन धान्यादि भेदोंसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष ही भिन्न है। उदाहरण—एक मनुष्य अज्ञानी गुरुके उपदेश से एक छोटे से भौहरेमें बैठ कर भैंसे के रूप का ध्यान करने लगा और अपने को भैंसा मान, भैंसे जैसे बड़े और मोटे शरीर के चिंतवन में आकाश पर्यन्त सींगों वाला बन गया, तब इस चिंता में पड़ा कि

इस छोटे से भौहरे में से मेरा इतना बड़ा शरीर कैसे निकल सकेगा ? यह भैंसा मानने वाला यदि अपने को भैंसा न माने तो मनुष्य तो बना बनाया ही है । ठीक इसी प्रकार यह जीव मोह के निमित्त से अपने को वर्णादि स्वरूप मानकर देवादिक पर्यायों को आपा न माने, तो निर्मल अमूर्तिक शुद्धात्मा तो आप बना बनाया ही है । सारांश यह आत्मा कर्मजनित रागादिक भावों से हमेशा ही भिन्न है । निश्चय पूर्वक आत्मा कर्म जनित भावों से संयुक्त प्रतिभासता संसार का बीज भूत अर्थात् मूलकारण है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि मिथ्या दर्शन ही संसार का मूल कारण है ।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

मिथ्यादर्शन के समूल नष्ट करने को सम्यक् दर्शन कहते हैं—कर्मजनित पर्यायोंसे शुद्ध चैतन्य स्वरूपके यथावत जाननेको सम्यक् ज्ञान, और कर्मजनित पर्यायों से उदासीन हो निजस्वरूप में स्थिरीभूत होने को सम्यक् चारित्र कहते हैं । इन तीनों का समुदाय ही कार्य सिद्धि होने का उपाय है । यह रत्नत्रय धर्म ही मोक्ष का मार्ग है,अन्य नहीं ।

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्य निरभिमुखा ।
एकान्त विरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१६॥

इस रत्नत्रय धर्म का पालन मुनिराज सर्वथा किया करते हैं, गृहस्थ एकोदेश पालन करते हैं । महामुनियों की प्रवृत्ति जगत् के लोगों से सर्वथा निराली होती है । गृहस्थोंका आचरण पापक्रियाओं से मिला हुआ होता है । ऐसे आचरण से महामुनि सर्वथा दूर रहते हैं । मुनि-राज पापक्रियाओं से त्यागस्वरूप,परद्रव्योंसे उदासीन रूप हुआ करते

हैं, वे केवल अपने ही आत्मीक चैतन्य स्वभाव का अनुभव किया करते हैं। आगे उपदेश देने का अनुक्रम बतलाते हैं।

बहुशः समस्त विरतिं प्रदर्शितां यो न जातु ग्रह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥१७॥
यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥
अक्रम कथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

जो जीव उपदेश सुनने का अभिलाषी हो, उसे पहले मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये, और वह यदि मुनि धर्म ग्रहण करने के योग्य सामर्थ्य न रखता हो तो बाद में उसे श्रावक धर्म का उपदेश देवें। क्योंकि यदि उपदेश दाता पहले मुनिधर्म को सुना कर श्रावक धर्म का उपदेश देता है, तो जिन मतमें उसे प्रायश्चितरूप दंड देने योग्य बतलाया गया है। क्योंकि जिस शिष्य के अंतरङ्ग में इतना उत्साह था कि यदि उसे पहले मुनिधर्म सुना दिया जाता तो वह मुनिपद को ही ग्रहण कर लेता, परन्तु उपदेश दाता पहले ही श्रावक धर्मका व्याख्यान करने लगा, तो वह उससे ही सन्तुष्ट हो गया। ऐसी हालत में मुनिधर्म को ठगानेका दंड उपदेशदाताको ही देना चाहिये। अब आगे जो जीव मुनिधर्मके भारको उठाने की सामर्थ्य नहीं रखते, उन के लिये आचार्यवर श्रावक धर्म का व्याख्यान करते हैं।

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः ॥२०॥

२०—मुनिराज तो मोक्ष मार्ग का सेवन पूर्ण रूप से करते ही हैं, किन्तु गृहस्थ को भी यथाशक्ति थोड़ा बहुत सेवन करना चाहिए सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र की एकता होना मोक्ष का मार्ग है—इन्हीं को तीन रत्न या रत्नत्रय कहते हैं ? यही मोक्ष का साधन है ॥

तत्रादौसम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

इस जीव का हितकारी उपाय सम्यक् दर्शन समान् और कोई नहीं है, बिना सम्यक् दर्शन ग्यारह अंग दस पूर्व तकके पाठोका ज्ञान भी अज्ञान ही कहलाता है और महाव्रतादि के साधन से अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त बन्धयोग्य विशुद्ध परिणामों से भी असंयमी कहलाता है। परंतु सम्यक् सहित होने से थोड़ा सा ज्ञान भी सम्यक ज्ञान और थोड़ासा भी त्यागरूप आचरण सम्यक चारित्र कहलाता है। जैसे अङ्क सहित होने से बिन्दी भी प्रमाणता में आ जाती है । इस लिये सब से पहले सम्यक्त को ही अङ्गीकार करना जरूरी है । अन्य साधन उसके बाद आते हैं ।

जीवाजीवादीनां तत्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपंतत् ॥२२॥

सम्यक दर्शन—तत्वार्थ श्रद्धान सम्यक्तका लक्षण है यह तत्वार्थ

श्रद्धान दो प्रकार का होता है एक सामान्य रूप और एक विशेषरूप (तत्वार्थ=तत्व·सारभूत+अर्थ–जो निश्चय किया जावे, ऐसा पदार्थ) पर भावोंसे भिन्न अपने चैतन्य स्वरूपको आपरूप श्रद्धान करना सामान्य तत्वार्थ श्रद्धान कहलाता है। यह नारकी तिर्यञ्चादिक समस्त ही सम्यक दृष्टि जीवों के लब्धि व उपयोगरूप में पाया जाता है। व्यवहार दृष्टि से जीव अजीवादिक सप्ततत्वों को विशेषता पूर्वक जानकर श्रद्धान करना विशेष तत्वार्थ श्रद्धान कहलाता है यह मनुष्य देवादिक विशेष ज्ञानी जीवों के पाया जाता है। परन्तु राजमार्ग से सप्त तत्वों का जानना ही सम्यक श्रद्धान होने का कारण है; क्योंकि यदि तत्वों के स्वरूप को ही नहीं जाने तो श्रद्धान किसका करे? इसलिये यहां प्रसंगवश इन सातों तत्वों का संक्षेप से वर्णन करना कुछ अनुचित न होगा।

(१) जीवतत्व–जो चेतना लक्षण सहित विराजमान हो उसे जीव कहते हैं, इसके तीन भेद हैं, शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र।

(क) जिन जीवोंके सर्वगुण, पर्याय, अपने निज भावरूप परिणमन करते हैं, अर्थात् जिनके केवल ज्ञानादिक शुद्ध परणति पर्याय में विराजमान हो गये हों, वे शुद्ध जीव कहलाते हैं, उनही को परमात्मा कहते हैं।

(ख) जिन जीवों के सम्पूर्ण गुण पर्याय विकार भाव को प्राप्त हो रहे हों, अर्थात् जिन के ज्ञानादिक गुण कर्मआवरण से आच्छादित हो रहे हों। और यदि वे गुण थोड़े बहुत प्रकट रूप हों तो विपरीत रूप परिणम रहे हो और जिनकी परिणति रागादि रूप परिणमन कर रही हो, वे मिथ्यादृष्टि अशुद्ध जीव कहलाते हैं। इन को बहिरात्मा कहते हैं।

ग—जिन जीवों के सम्यक्तादि गुण कुछ विमल रूप हो गये हों और कुछ समल हों। ज्ञानादिक गुणों की कुछ शक्ति शुद्ध हो गई हो और बाकी अशुद्ध रह गई हो; कोई गुण अशुद्ध ही हो रहे हों, और जिनकी परणति शुद्धाशुद्ध रूप परिणमन करती हो, वे जीव शुद्धाशुद्ध रूप मिश्र जीव कहलाते हैं। इनहीं को अन्तरात्मा कहते हैं।

२—अजीवतत्व—जो पदार्थ चेतना गुण रहित हों, उन्हें अजीवतत्व कहते हैं—इसके ५ भेद हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

पुद्गल—जिस द्रव्य में रस, गन्ध, स्पर्श, वर्ण यह चार गुण पाये जावें, उसे पुद्गल कहते हैं। इस पुद्गल के दो भेद हैं। एक अणु, दूसरा स्कन्ध। अणु—एकाकी अविभागी (जिसका और खण्ड न हो सके) परमाणु को अणु कहते हैं। स्कन्ध—दो या दो से अधिक अणुओं के समुदाय को स्कन्ध कहते हैं। अनन्त परमाणु के मिलने तक स्कन्ध कहे जाते हैं। निश्चय नय से एक परमाणु को ही पुद्गल द्रव्य कहते हैं। व्यवहार नय से स्कन्धों को पुद्गल द्रव्य कह दिया जाता है। यह स्कन्ध पुद्गल द्रव्य छह प्रकार के होते हैं—

१—स्थूल स्थूल—जो छेदने भेदने तथा दूसरे स्थान पर ले जाने योग्य हों, तथा खण्ड किये जाने पर स्वयमेव न मिल सकें, जैसे काष्ट पाषाण आदि।

२—स्थूल—जो छेदने भेदने तथा अलग अलग किये जाने पर तुरन्त ही स्वयं मिल सक्ते हैं। जैसे घी, तेल, जल, दूध आदि।

३—स्थूल-सूक्ष्म—जो आंखों से तो दिखाई देवें, परन्तु पकड़े न जा सकें। जैसे आताप, चान्दनी, प्रकाश, अन्धकार आदि।

४—सूक्ष्म-स्थूल—जो आंखों से तो दिखाई न देवें, परन्तु अन्य चार इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हों। जैसे वायु, रस, शब्द आदि। व्यञ्जना-वग्रह, मन और चक्षु से नहीं होता है शेष चार इन्द्रियों से होता है—सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों को ही ग्रहण करता है।

५—सूक्ष्म—जो इन्द्रिय गम्य न हों अर्थात् जो किसी भी इन्द्रिय द्वारा न जाने जावें। जैसे कार्माण वर्गणायें।

६—सूक्ष्म सूक्ष्म—जो इन कर्म वर्गणाओं से भी सूक्ष्म दो अणु के स्कन्ध तक हैं।

धर्म द्रव्य—जो द्रव्य जीव और पुद्गल के चलने में सहकारी होता है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं; यह एक अमूर्तिक अखण्ड, लोकाकाश प्रमाण, असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है। इस में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं है। जैसे जल मछली के गमन में सहायक होता है, उसी प्रकार यह धर्म द्रव्य भी गमन करते हुए जीव और पुद्गल की तरफ उदासीन होते हुए भी, उनकी गति के लिये सहकारी कारण है।

अधर्म द्रव्य—जो द्रव्य जीव और पुद्गल के ठहरने में सहकारी कारण होता है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। धर्म द्रव्य की तरह यह द्रव्य भी एक अखण्ड, अमूर्तिक लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। इस में भी स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण आदिक नहीं है। जैसे धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल के गमन करने में सहकारी होता है, वैसे ही यह अधर्म द्रव्य उनके ठहरने में सहकारी होता हैं। जैसे छाया पथिकों के ठहरने में कारण होती है, वैसे ही जीव पुद्गल के ठहरने में निश्चय नय से तो उनका ही स्वभाव उनकी स्थिति के लिये उपादान कारण है, व्यवहारनय से अधर्म द्रव्य है।

आकाश—जो द्रव्य सर्व-द्रव्यों को अवकाश देने की शक्ति रखता है, उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। यह एक सब से बड़ा अमूर्तिक द्रव्य है। इसके दो भेद हैं—एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश। जहां जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल यह पांच द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोकाकाश कहलाता है और जहां यह नहीं पाये जाते, केवल आकाश ही आकाश पाया जाता है, वह अलोकाकाश कहलाता है। इन दोनों का सत्व जुदा जुदा

नहीं है, द्रव्य एक है, क्योंकि जुदा होने से अलोकाकाश में काल न होने के कारण, परिणमन न होगा और अपरिणामी होने से द्रव्य का विनाश हो जावेगा। काल द्रव्य—जो द्रव्य सर्व द्रव्यों के परिवर्तन करने में समर्थ है और जो निश्चय से वर्तनाहेतुत्व लक्षण से संयुक्त है उसे काल द्रव्य कहते हैं। यह लोक के एक एक प्रदेश पर स्थित एक परमाणुमात्र असंख्यात द्रव्य है। "जैसे रत्नों का ढेर सब स्थान रोक कर भी भिन्न भिन्न रत्न को रखता है। वैसे कालाणु सब लोकाकाश में एक एक प्रदेश एक एक करके व्याप्त हैं तथापि वे कभी किसी से मिलते नहीं हैं।" निश्चय काल से द्रव्यों का परिणमन होता है, द्रव्यों के परिणमन से व्यवहार काल का ज्ञान होता है। जिससे निश्चय काल का बोध होता है—घड़ी, घण्टे, मिनट आदि व्यवहार समय पुद्गलों के परिणमन से ही उत्पन्न होता है। निश्चय काल परिणामों का उत्पन्न करने में सहकारी कारण है, व्यवहार काल इस निश्चय काल की एक पर्याय है।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छह द्रव्यों का संक्षिप्त वर्णन किया गया। इन में से काल बहुप्रदेशी नहीं है, एक प्रदेश मात्र है। इसलिये इस को काय रहित समझकर बाकी पांचों द्रव्यों को बहुप्रदेशी होने के कारण पंचास्तिकाय कहा जाता है।

जीव अजीव का वर्णन तो ऊपर आचुका—अब बाकी पांच तत्वों अर्थात् आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष (जो जीव, अजीव दोनों तत्वों के परस्पर सम्बन्ध से होते हैं) का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

३—आस्रव तत्व-जीव के रागादिक परिणामों से, मन वचन, काय के योगों द्वारा, पुद्गल परमाणुओं के आने को आस्रव कहते हैं। यह आस्रव दो प्रकार का होता है भावास्रव और द्रव्यास्रव।

भावास्रव—आत्मा के जिन रागादि भावों से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप

होते हैं, उन भावों के होने को भावास्त्रव कहते हैं, भावास्त्रव के ३२ भेद होते हैं। मिथ्यात्व ५, अविरति ५, प्रमाद १५, योग ३ और कषाय ४। (विशेष के लिये देखो आस्त्रव भावना)।

द्रव्यास्त्रव—ऐसे पुद्गल परमाणुओं का कि जिनमें ज्ञानावर्णादि कर्मरूप होने की शक्ति होती है, आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही होने के लिये आना द्रव्यास्त्रव कहलाता है।

४—बन्धतत्व—जीव के अशुद्ध भावों के कारण खिंचे हुवे पुद्गल परमाणुओं का, ज्ञानावरणादिक रूप, अपनी स्थिति सहित, अपने अपने रस संयुक्त, आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रूप होने का नाम बन्ध तत्व है। बन्ध दो प्रकार का होता है एक भाव बन्ध और एक द्रव्यबन्ध।

द्रव्यबन्ध—पुद्गल कार्माण जाति की वर्गणायें सर्वलोक में फैली हुई हैं, इन वर्गणाओं का आत्मा की योग शक्ति परिणमन से खिंच कर, आत्मा के प्रदेशों के साथ परस्पर एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध कर लेने का नाम द्रव्यबन्ध है।

भाव बन्ध—इस द्रव्यबन्ध के निमित्त कारण आत्मा के शुभ तथा अशुभ परिणाम हैं, इन भावों को भाव बन्ध कहते हैं।

बन्ध के चार भेद हैं—प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध। इन में से पहले दो अर्थात् प्रकृति-बन्ध और प्रदेश बन्ध, तो मन, वचन, काय की क्रिया से होते हैं और स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषायों से होते हैं। (विशेष के लिये देखो रत्नत्रय धर्म में बन्ध का वर्णन)

५—सम्बरतत्व—जीव के रागादिक अशुद्ध परिणामों के अभाव से कर्म परमाणुओं के आस्त्रव का रुकना संबर तत्व कहलाता है। संबर भी दो प्रकार का होता है—भाव संबर और द्रव्य संबर। निर्मल आत्मा के

अनुभव के बल से शुभ तथा अशुभ भावों का रुकना भाव संबर है—व्रत, समिति,गुप्ति,दश धर्म बारह भावना आदि सब भाव संबर के ही भेद हैं। द्रव्य कर्मों के आस्रव के रुक जाने को द्रव्य संबर कहते हैं।

६—निर्जरातत्व—जीव के शुद्धोपयोग, व शुभोपयोग के बल से, अथवा स्थिति पूर्ण हो जाने से,बन्धे हुवे कर्मों के एकोदेश नाश होने को निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा दो प्रकार की होती है—

१—सविपाक निर्जरा। २ अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा—स्थिति पूर्ण हो जाने पर पूर्व बद्ध कर्मों का उदय में आकर, फल देकर या बिना निमित्त पाये, यों ही झड़जाना सविपाक निर्जरा है, यह सब ही संसारी जीवों के होती है। यह निर्जरा मोक्ष का कारण भूत नहीं होती।

अविपाक निर्जरा—पूर्व बद्ध कर्मों का स्थिति पूर्ण होने से पहले ही, तपश्चरणादि द्वारा बिना फल दिये,गिरा देने का कारण अविपाक निर्जरा है;यह निर्जरा मोक्ष का कारण भूत होती है। यह रत्नत्रय गर्भित वीतराग भावों से होती है। जितने अंशों में वीतरागता होती है, उतने २ अंश पूर्व बद्ध कर्म रस रहित होकर गिरते जाते हैं। निर्जरा का मुख्य उपाय भेद विज्ञान तथा आत्मविचार है। जिन परिणामों से कर्मों का आत्मा से झड़ना होता है, वह भाव निर्जरा है। पूर्व बद्ध कर्म पुद्गलों का रस रहित होकर आत्मा के प्रदेशों से झड़ जाने तथा बन्धस्वरूप न रहने का नाम द्रव्य निर्जरा है।

७—मोक्षतत्व—जीव के समस्त कर्मों के सर्वथा नाश होने और उसके निज स्वभाव के प्रगट होने को मोक्ष कहते हैं। द्रव्य कर्मों के आत्मा से जुदा होने को द्रव्य मोक्ष कहते हैं। आत्मा का जो परिणाम आत्मा के समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण है, वह भाव मोक्ष है।

इन उपर्युक्त सात तत्वों के अर्थ का यथार्थ श्रद्धान करने का नाम ही सम्यक् दर्शन है।

यदि यहां कोई प्रश्न करे कि सम्यक् दर्शन के इस लक्षण में अव्याप्ति दूषण आता है, क्योंकि जिस समय सम्यक् दृष्टि विषय कषाय की तीव्रता संयुक्त होता है, उस समय उसकी यह श्रद्धा नहीं होती। लक्षण ऐसा होना चाहिये जो लक्ष्य में हर समय और हर अवस्था में पाया जावे। उत्तर—जीव के श्रद्धानरूप और परिणमनरूप दो भाव होते हैं, इन में से श्रद्धानरूप तो सम्यक् का लक्षण है और परिणमनरूप चरित्र का लक्षण है। सम्यक् दृष्टि विषय कषाय की तीव्रता की हालत में परिणमनरूप होता है, किन्तु श्रद्धानरूप नहीं, तत्वार्थ श्रद्धान में तो उसकी प्रतीति ठीक वैसी ही है जैसी कि होनी चाहिये। दृष्टान्त—जैसे एक गुमाश्ता किसी साहूकार के यहां नौकर है वह अपने अन्तरङ्ग में साहूकार के कारबार तथा धन सम्पत्ति आदि को अपना न जानते हुवे भी, "मेरा मेरा" कह कर पुकारता है। उस के नफे टोटे में हर्ष विषाद भी करता है और परत्व के भाव को (परायेपने का विश्वास) कभी प्रगट नहीं करता है। परन्तु यह परत्व का विश्वास उसके अंतरंग में शक्ति रूप विद्यमान रहता है, कदाचित वह साह के धन की चोरी करके उसके धन को अपना समझने लगता है, तो वह अपराधी ठहरता है। किन्तु जिस समय यह गुमाश्ता साह के सामने अपना हिसाब पेश करता है, तो उस समय अपने अंतरङ्ग के विश्वास को साफ २ प्रगट कर देता है। साह की नौकरी को वह पराधीन दुःख जानता है, धन हीन होने के कारण आजीविका के बश मजबूरन् नौकरी करता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी जीव उदयागत कर्मों के फल को भोगता है; अन्तरङ्ग में वह निश्चय पूर्वक जानता है कि यह सब औदयिक ठाठ है, मेरा निज स्वरूप जुदा ही है।

परिणमनरूप से वह इष्ट अनिष्ट में हर्ष विषाद भी प्रगट करता है,बाह्य औदयिक सम्बन्ध को "मेरा मेरा" भी कहता है, अपनी निश्चय प्रतीति को बार बार सम्भालता भी नहीं है;क्योंकि यह प्रतीति कर्म उदय के समय शक्तिरूप विद्यमान रहती है। परन्तु जिस समय वह उस कर्म का और अपने स्वरूप का विचार करता है,तो अन्तरङ्ग में जैसी प्रतीति है, उसी को प्रगट करता है।

ज्ञानी जीव यदि कर्म के उदय को श्रद्धान पूर्वक अपने जानता है,तो मिथ्यात्वी ही कहलाता है। ज्ञानी कर्म के उदय को पराधीन दुःख जानता है। वह अपने शुद्धोपयोगी की हीनता के कारण ही पूर्व-बद्ध कर्मों के वश होकर मजबूरन् कर्म के औदयिक भावों में प्रवृत्ति करता है।

इस प्रकार सम्यक् दृष्टि के तत्वार्थ श्रद्धान सामान्यरूप या विशेषरूप, शक्ति अवस्था या व्यक्त(प्रगट)अवस्था को लिये हमेशा ही पाया जाता है।

यहां यदि फिर कोई प्रश्न करे कि इस लक्षण में अव्याप्ति दूषण तो नहीं पाया जाता, परन्तु अतिव्याप्ति दूषण तो अवश्य ही आता है; क्योंकि द्रव्यलिङ्गी मुनि जिन प्रणीत सप्त तत्वों को ही मानते हैं,अन्य मत कल्पित तत्वों को नहीं मानते। लक्षण ऐसा होना चाहिये जो लक्ष्य बिना और जगह न पाया जावे। इसका उत्तर यह है—द्रव्यलिङ्गी मुनि जिन प्रणीत तत्वों को तो मानते हैं,परन्तु विपरीताभिनिवेश संयुक्त (उल्टे रूप) मानते हैं। वे शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को ही आपा मान बैठते हैं। अजीव तत्व में ही जीवत्व मानते हैं और फिर आस्रव बन्धरूप शील संयमादिक परिणामों को ही सम्बर निर्जरा रूप मान मोक्ष का कारण मान बैठते हैं। द्रव्यलिङ्गी मुनि पाप रूप क्रियाओं से तो बेशक विरक्त हो जाते हैं, परन्तु पुण्य में ही उपादेय बुद्धि कर परिणमन किया करते हैं। इस लिये उनके यथार्थ तत्वार्थ श्रद्धान नहीं है।

इस प्रकार तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक् दर्शन का ही अङ्गीकार करना जरूरी है।

सम्यक्त के अष्ट अङ्ग

आगे सम्यक्त के आठ अङ्गों का वर्णन करते हैं।

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमुसत्यमसत्यंवा न जातु शङ्केति कर्तव्या॥ २३॥

१-निःशङ्कित, २-निःकांक्षित, ३-निर्विचिकित्सा, ४-अमूढ दृष्टि, ५-उपब्रंहण, ६-स्थितिकरण, और ७-प्रभावना। ये आठ अङ्ग सम्यक् दर्शन के हैं।

शङ्का अर्थात् भय से रहित जो आत्मा का परिणाम वही निःशाङ्कित भाव कहलाता है। सर्वज्ञ देव ने समस्त जीवादिक पदार्थों का समूह अनेक स्वभाव रूप कहा है, सो क्या यह सत्य है? या असत्य है ? इस प्रकार की शंका कभी भी नहीं करनी चाहिये। जिनेन्द्र भगवान अन्यथा वादी नहीं है, इस लिये जिन प्रणीत पदार्थों में सन्देह नहीं करना, इसको भी निःशाङ्कित अङ्ग कहते हैं। "सम्यक् दृष्टि को कोई भी भय छूने तक नहीं पाता—भय तो मिथ्या दृष्टि को ही हुआ करता है। मिथ्या दृष्टि कर्म जनित शरीरादिक पर्यायों को ही आत्मतत्व समझ बैठते हैं, उन्हें ही मरने जीने आदि के भय हुआ करते हैं। जो जीव भय सहित पराधीन होते हैं, वह आत्मानुभव से गिरे हुए होते हैं; जो स्वस्थ हैं वह आत्मानुभव शील होते हैं और उनको किसी प्रकार का भी भय होना असंभव होता है" (पञ्चाध्यायी भाषा टीका से उद्धृत)। जिनके स्वानुभव होता है, उन्हें भय नहीं लगता। सम्यक् दृष्टि स्वानुभवी होने के कारण निःशङ्क होता है। इसी लिये वह शङ्का रहित अर्थात् भय रहित ही होता है उसके नीचे लिखे सात प्रकार के भय नहीं होते—१-इस लोक भय, २-परलोक भय, ३-वेदना भय, ४-अरक्षा भय, ५-अगुप्ति भय, ६-मरण भय, ७-आकस्मिक भय।

इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चकित्व केशवत्वादीन।
एकान्तवाददूषितपरसमयानापि च न काङ्क्षेत्॥२४॥

निःकांक्षित नाम बाञ्छा रहित का है। सम्यक् दृष्टि जीव इस लोक सम्बन्धी पुण्य के फल, ऐश्वर्य, सम्पदा, पुत्रादिक, और परलोक सम्बन्धी पुण्य के फल चक्रवर्ति, नारायण, इन्द्रादिक पदों की बाञ्छा नहीं करता है, क्यों कि वह पुण्य के फल रूप इन्द्रियों के विषय भोगों को आकुलता के निमित्त से दुःख रूप ही जानता है। सम्यक्-दृष्टि, एकान्त-बादी अन्य धर्मों को भी ग्रहण करने की बांछा नहीं करता है। इस का नाम निःकांक्षित अङ्ग है।

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

विचिकित्सा नाम "न सुहावने" अथवा ग्लानि का है। ग्लानि रहित होने का नाम निर्विचिकित्सा है। पाप कर्म के उदय से दुःखदायक भावों का संयोग होने पर उद्वेग रूप नहीं होना चाहिये, क्योंकि कर्म-उदय आधीन-कार्य अपने बस का नहीं होता है, और उस उदयाधीन दुःख से अमूर्तीक आत्मा का घात भी नहीं होता है।

विष्टादिक निन्ध वस्तुओं से भी ग्लानि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उन का स्वभाव ही ऐसा है, हमें उस से क्या? जिस शरीर में हमारा ज्योति स्वरूपी आत्मा तिष्टता है, वह तो और भी निन्ध है।

"निर्विचिकित्सा गुण का पालन करने वाला अपने में अधिक गुण समझ कर, अपनी प्रशंसा नहीं करता, दूसरों की हीनता सिद्ध करने की बुद्धि नहीं रखता, जो पुरुष खोटे कर्म के उदय से दुःखी हो रहा है, और तीव्र असातावेदनीय कर्म के उदय के कारण निन्ध स्थान बन रहा है, ऐसे पुरुष के विषय में सम्यक्-दृष्टि अपने चित्त में अदया बुद्धि नहीं होने देता। वह कभी ऐसा अज्ञान रूप विचार नहीं करता, कि मैं सम्पत्तियों का घर हूँ; यह बेचारा दीन विपत्तियों का घर है, मेरे समान यह नहीं हो सकता।"

(पञ्चाध्यायी भाषा टीका)। वह विचारता है कि संसारी जीवों में जो भेद हैं, वह सब कर्म कृत हैं, परन्तु वास्तव में सब ही आत्मायें समान हैं। इस प्रकार भूख, प्यास, जाड़ा, गर्मी आदि नाना प्रकार के दुःखदायी भावों में अथवा दीन दुःखी जीवों में या विष्टादिक निन्द्य पदार्थों में ग्लानि न करने का नाम निर्विचिकित्सा है।

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥२६॥

लोक में अनेक जीव विपरीत भाव रूप प्रवृत्ति करते हैं, सम्यक् दृष्टि को उन की देखा देखी कभी भी प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये, ज्ञान पूर्वक विचार कर ही कार्य करना चाहिये। अन्य मतावलम्बियों द्वारा रचित कल्पित ग्रन्थ जो सच्चे ग्रन्थ से जचें, अन्य कल्पित मत, किसी एक खास क्रिया के भली सी दिखाई देने के कारण, सच्चे सरीखे मालूम हों। अन्य वादियों द्वारा कथित झूठे तत्व किसी खास युक्ति सी को देखने के कारण सत्य रूप प्रतीत होते हों। अन्य झूठे देव किंचित चमत्कारादि दिखाने के कारण, सच्चे देव समान मालूम हों। विषयक, पापों का लंपटी, दुर्भेषी, साधु अपने किसी चमत्कार के कारण, सच्चे गुरु जैसा प्रतिभासे, तो उन के धोखे में आकर उन में श्रद्धा नहीं करनी चाहिये, और न उन के प्रति विनय रूप प्रवृत्ति करना चाहिये। सम्यक् दृष्टि को ज्ञान से भ्रष्ट होने के कारणों से सदैव खबरदार रहना ही उचित है। सारांश यह है कि सम्यक् दृष्टि भय से, आशा से, प्रेम से, लोभ से, किसी प्रकार भी कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को प्रणाम तथा उनकी विनय नहीं करता। इसी का नाम अमूढ दृष्टित्व अङ्ग है।

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादि भावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

उपबृंहण का अर्थ है बढ़ाना, अपनी आत्मा के धर्म बढ़ाने, तथा अपनी आत्मिक शक्ति के बढ़ाने और उसके प्रकाश करने का नाम उपबृंहण है। उत्तम क्षमा, मार्दवादि भावों द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव का बढ़ाना सम्यक् दृष्टि का परम कर्तव्य है। इसी अङ्ग को उपगूहन अङ्ग भी कहते हैं, उपगूहन का अर्थ है ढांकना। पराये दोषों को ढांकना उपगूहन अङ्ग है, दूसरे के दोष प्रकट करने से उस की आत्मा को बड़ा संताप तथा क्लेश होता है, उससे हिंसा होती है। सम्यक् दृष्टि दूसरों के दोषों को प्रगट नहीं करता।

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनोन्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्॥२८॥

धर्म से जो पतित हो चुका है, या जो भ्रष्ट होने वाला है, उसे जैसे तैसे कर के धर्म में दृढ़ करने को स्थिति-करण कहते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभादिक कषाय भावों के निमित्त से यदि अपने परिणाम भ्रष्ट होते हों तो अपने को, और यदि दूसरों के भ्रष्ट होते हों तो दूसरों को युक्ति पूर्वक, जैसे बने, तैसे धर्म में दृढ़ करना, सम्यक् दृष्टि का परम कर्तव्य है। और यही वास्तविक स्थिति करण है "सम्यक् दृष्टि स्वोपकार पूर्वक ही परोपकार किया करता है, और यही ठीक है। वह बिना किसी प्रकार की इच्छा रखते हुए, धार्मिक बुद्धि से ही परोकार किया करता है, क्योंकि जो परोपकार, लोभ कषाय वश, अथवा मान प्रतिष्ठा की चाह से किया जाता है, वह अनुग्रह अवश्य है, परन्तु वह सत अनुग्रह नहीं कहा जा सकता, निःस्पृह वृत्तियों का ही अनुग्रह प्रशंसनीय कहा जा सकता है। सच्चा अनुग्रह यह ही है, कि जो पद से भ्रष्ट हो चुके हों, उन्हें उसी पद में फिर स्थापन कर दिया जावे। धर्म का आदेश और धर्म का उपदेश देकर ही दूसरों पर अनुग्रह करना उचित है, अपने व्रतों में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचा कर दूसरों के रक्षण में तत्पर रहना उचित्त है। सब से प्रथम आत्महित करना चाहिये,

अपना आत्महित करते हुए जो परहित करने में समर्थ हैं, उन्हें परहित अवश्य ही करना चाहिये। आत्महित ही मुख्य कर्तव्य है उस को न भूलना चाहिये। आचार्य यद्यपि मुनियों का हित करते हैं, उन्हें मोक्ष मार्ग पर लगाते हैं, तथापि उस अवस्था में रह कर वह उच्च-ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकते। जिस समय वे उच्च-ध्येय मुक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं, वह आचार्य पद का त्यागकर स्वात्म भावनामात्र, साधुपद में आ जाता है। इस लिये यह ठीक है कि आत्महित ही मुख्य कर्तव्य है। यहां कोई कहे कि आत्महित, परोपकार के मुकाबले में स्वार्थ है, उत्तर यह है—आत्महित स्थार्थ में शामिल नहीं है, जो प्रयत्न संसारिक वासनाओं की पूर्ति के लिये किया जाता है, वही स्वार्थ कहलाता है। कारण यही है कि स्वार्थ उसे ही कह सकते हैं, जो प्रमाद विशिष्ट है। आत्महित करने वाला प्रमाद विशिष्ट है, इस लिये उसे स्वार्थ कहना भूल है। इस से कोई यह न समझे कि परोपकार का निषेध किया जाता है। परोपकार का करना तो महापुण्य बन्ध का कारण है; परन्तु जो लोग परोपकार करते हुए स्वयम् भ्रष्ट हो जाते हैं, अथवा आत्महित को स्वार्थ बताते हैं, वे अवश्य आत्महित से कोसों दूर हैं। आचार्यों ने परोपकार को भी स्वार्थ साधन ही बतलाया है। यहाँ पर फिर यह प्रश्न होता है, कि कहीं अवसर आने पर परोपकारार्थ स्वयं भ्रष्ट भी होना पड़ता है, जैसे विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा के निमित्त अपने पद को छोड़ ही दिया। यह शंका ठीक है, कहीं पर विशेष हानि देख कर ऐसा भी किया जाता है। परन्तु आत्महित को गौण कहीं नहीं समझा जाता है, विष्णुकुमार स्वामी ने यद्यपि ऐसा किया, तथापि फिर उन्होंने शीघ्र ही प्रायश्चित्त लेकर स्वपद को ग्रहण कर लिया"। (पञ्चाध्यायी गाथा ८०३-८०५ भाषा टीका) इस से सिद्ध होता है कि आत्महित करना ही जीवका परम कर्तव्य है, परोपकार अवश्य करना चाहिये, परन्तु परोपकार के समय

निज पद को भुलाना उचित नहीं है। स्वामी समन्तभद्राचार्य अथवा स्वामी विष्णुकुमार के सदृश यदि किसी अनिवार्य कारणवश किसी समय, परोपकार के निमित्त भ्रष्ट होना भी पड़ जावे, तो कार्य सफल होने के बाद, प्रायश्चित पूर्वक निजपद को अवश्य ही ग्रहण कर लेना चाहिये, सारांश यह है कि परोपकार करते समय, आत्मिक कल्याण को कभी भी बिसारना नहीं चाहिये। जो परोपकार स्वधर्म स्थिरता तथा चारित्र दृढ़ता पूर्वक होता है, वह स्वोपकार में भी पूर्णतया सहायक होता है।

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मी निबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमंवात्सल्यमालम्ब्यम् ॥२९॥

गौ बच्छे की सी प्रीति करने को वात्सल्य कहते हैं। जैसे गौ बच्छे के प्रेम से खिंच कर अपने प्राणों का नाश होने का भय होने पर भी सिंह के सन्मुख चली जाती है, और ऐसा विचार करती है, कि मेरे भक्षण करने से यदि बच्छे का भला हो जावे तो अच्छा है। ठीक उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि धर्म तथा धर्मात्माओं में ऐसी ही परम प्रीति रखता है, और तन, मन, धन आदिक अपना सर्वस्व अर्पण कर के वात्सल्य का पालन करता है। जब तक वह अपनी समर्थ देखता है, वह धर्म तथा धर्मात्माओं पर आई हुई किसी बाधा को भी सहन नहीं कर सकता है। हर प्रकार से जैसे भी बन सकता है, वह उन की बाधा तथा उपसर्ग को दूर करने का भरसक प्रयत्न करता है। यह परात्म संबन्धी वात्सल्य है। परीषह और उपसर्गादि से पीड़ित होने पर भी अपने श्रेष्ठ आचरण में, ज्ञान में, ध्यान में शिथिलता नहीं आने देने का नाम स्वात्म वात्सल्य है।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नमयतेजसा सततमेव।
दानतपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

धार्मिक कार्यों में उन्नति करने का नाम प्रभावना है। अपनी आत्मा

तथा जिन धर्म की अतिशय को प्रगट करने को भी प्रभावना कहते हैं। प्रभावना दो प्रकार की होती है। (१) स्वात्म प्रभावना। (२) परात्म प्रभावना (वाह्य प्रभावना)। इन में स्वात्म प्रभावना सर्वोत्तम और उपादेय है, दूसरी भी ग्रहण करने योग्य है। अपनी आत्म की अतिशय तो रत्नत्रय धर्म के प्रताप के बढ़ाने से प्रगट होती है। रत्नत्रय धर्म के पालन करने से आत्मा नित प्रति अधिक अधिक शुद्ध होता चला जाता है। अन्त में कर्म रूपी शत्रु का नाश कर, परम शुद्धता को प्राप्त कर लेता है। यह ही वास्तविक स्वात्म प्रभावना है। जिन धर्म का अतिशय आहार दान, औषधि दान, अभय दान, विद्या दान देने से, घोर तपश्चरण करने से, भगवत् का बड़े हर्ष तथा उत्साह पूर्वक पूजन अभिषेक आदि करने से, धर्म तत्व प्रचार करने से बढ़ता है। इस प्रकार जैनधर्म के अतिशय के बढ़ाने को बाह्य प्रभावना कहते हैं। श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

अज्ञानतिमिर व्याप्तिमपाकृत्ययथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥

अर्थात् जगत् के जीवों का अज्ञान अन्धकार जिस प्रकार हो सके दूर कर के, उन में जिन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना अर्थात् उन को सम्यक् ज्ञानी बनाना सच्ची प्रभावना है।

सम्यक् दृष्टि इन आठों अङ्गों का पालन करता है। सम्यक् दृष्टि २५ दोषों से सर्वथा रहित होता है। उपर्युक्त आठ गुणों के उलटे रूप शङ्कादि आठ दोष हैं, जो २५ दोषों में गर्भित हैं। सम्यक् दृष्टि के नीचे लिखे आठ प्रकार के मद भी नहीं होते। १-कुलमद (पिता के पक्ष का मद)। २-जाति मद (माता के पक्ष का मद)। ३-रूप मद। ४-ज्ञान मद। ५-धन मद। ६-बल मद। ७-तप मद। ८-प्रभुता मद, अर्थात् ऐश्वर्य मद। ये आठ प्रकार के मद सम्यक्त्व को मलीन करते हैं। छह अनायतन खोटे गुरु,

खोटे देव, खोटे धर्म और इन तीनों के सेवक यह छह आयतन नहीं हैं। इन की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, और न इन की संगति करनी चाहिये। यदि प्रशंसा करे तो यह ही छह दोष हो जाते हैं। तीन मूढ़ता हैं-देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता, लोक मूढ़ता। देव मूढ़ता—वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी देव को छोड़ कर रागीद्वेषी पाखंडी देव को नमस्कार करना। गुरु मूढ़ता—निर्ग्रन्थ गुरु को छोड़ कर पाखंडी, वेषधारी इन्द्रिय विषय लम्पटी, धूर्त गुरुओं को नमस्कार करना। लोक मूढ़ता—खोटे शास्त्र और खोटे धर्म को नमस्कार करना, और खोटी क्रियाओं को जो धर्म नहीं हैं, उन को धर्म मान लेना, जैसे—दशहरे पर दवात कलम पूजना, दिवाली पर रुपया पैसे आदि का पूजन करना आदि। सम्यक् दृष्टि इन उपर्युक्त शङ्कादिक ८ दोष, ८ मद, ६ अनायतन, और ३ मूढ़ता, कुल २५ दोषों को दूर कर अष्टाङ्ग सम्यक् दर्शन को ही ग्रहण करता है। सम्यक् दृष्टि में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य जो सम्यक्त के बाह्य लक्षण हैं, अवश्य ही पाये जाते हैं। प्रशम शान्त भाव को, संवेग संसार शरीर भोगों से उदासीनता को, अनुकम्पा दया को, और आस्तिक्य, धर्म तथा तत्त्वों की दृढ़ श्रद्धा को कहते हैं।

आगे सम्यक् दर्शन के ५ अतिचार बतलाते हैं, परन्तु उन का वर्णन करने से पहले यह बता देना जरूरी है कि अतिचार कहते किसे हैं। अतिक्रम-मन की शुद्धि में क्षति होना, मन में विकार भाव होना अतिक्रम है। व्यतिक्रम-शील वृत्ति का अर्थात् व्रतचर्या का उल्लंघन करना व्यतिक्रम है। अर्थात् व्रत के खण्डन का भाव मात्र होना व्यतिक्रम है। अतिचारः—व्रतों की ओट रखते हुए, चारित्र में आलस्य अर्थात् शिथिलता होने को अतिचार कहते हैं, अर्थात् कारण वश मन में ग्लानि रखते हुए किसी व्रत के प्रति कूल किसी अंश में प्रवृत्ति कर लेना अतिचार है। अनाचार—सर्वथा व्रत भङ्ग कर देने को, अर्थात् व्रत के तोड़ देने को अनाचार कहते हैं।

मन, वचन, काय तीनों से व्रत भंग का नाम अनाचार है।

सम्यक् दर्शन के ५ अतिचार

१-शङ्का—जिनेन्द्र प्रणीत तत्वों में संशय करना। २-काङ्क्षा—इस लोक, परलोक सम्बन्धी भोगों की बाञ्छा करनी। ३—विचिकित्सा—अनिष्ट तथा दुर्गन्धित वस्तुओं को तथा दुःखी, अनाथ, रोगी प्राणियों को देख कर उन से ग्लानि करना। ४-अन्य दृष्टि संस्तव—मिथ्या दृष्टि पाखंडियों की तथा उन के मिथ्या धर्म की स्तुति करनी। ५-अन्य दृष्टि प्रशंसा—अपने मन द्वारा मिथ्या दृष्टि पाखण्डियों की, मिथ्यात्व क्रियाओं की सराहना करना या उन की मिथ्यात्व क्रियाओं को अच्छा जानना।

पहले सम्यक् दर्शन के आठ दोषों का वर्णन कर चुके हैं, यहाँ प्रश्न होता है कि पांच अतिचार क्यों कहे? आठ क्यों न कहे? विचार पूर्वक देखने पर मालूम होगा, कि बाकी के सब दोष इन ही पाचों में गर्भित हो जाते हैं।

सम्यक् दर्शन का पालन २५ दोष बचा कर, पांचों अतिचार रहित, निर्मलता से करना चाहिये। सम्यक् दर्शन धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है। इस के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। इस लिये, भव्य जीवों को उचित है, कि जिस प्रकार बने सात तत्वों के वास्तविक स्वरूप को समझ कर सम्यक् दर्शन रूपी रत्न से अपने आत्मा को भूषित करें।

सम्यक् ज्ञान

इत्याश्रित सम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरुप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१॥

पदार्थों का जो स्वरूप जिनागम की परंपरा से मिले, उसे प्रमाण नय पूर्वक अपने उपयोग में निश्चित कर, यथावत् जनना ही सम्यक् नाज्ञ की वास्तविक सेवा है। आगे प्रमाण नय का संक्षेप वर्णन करते हैं।

सम्यक् ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। पदार्थ के सामान्य तथा विशेष दोनों अंशों का एक साथ विषय करने वाला प्रमाण ज्ञान है, संसार में जितने भी पदार्थ पाये जाते हैं, उन सब में सामान्य धर्म और विशेष धर्म दोनों पाये जाते हैं, अर्थात एक वस्तु सामान्य और विशेष रूप है। जैसे एक बाग में पचास बृक्ष कई प्रकार के हैं, उन में बृक्षपना सब में सामान्य है, किन्तु हरएक बृक्ष का आकार, स्वरूप भिन्न भिन्न है. यह विशेष है। अस्तिपना सब द्रव्यों में व्यापक है, उसी में विशेष अस्तित्व जानना, कि यह अमुक है, यह अमुक है, विशेष है। सामान्य और विशेष में यही अन्तर है, कि सामान्य ज्यादह वस्तुओं में रहता है, और विशेष बहुत वस्तुओं में न रह कर खास खास वस्तुओं में जुदा जुदा रहता है। प्रमाण वस्तु के सब धर्मों का विषय करता है, इस के मुख्य भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जिस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता न लेनी पड़े वह प्रत्यक्ष है। और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता लेवे वह परोक्ष है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं—१—पारमार्थिक प्रत्यक्ष और २—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। जो ज्ञान केवल आत्मा ही के आधीन रह कर अर्थात जो इन्द्रियों की सहायता के बिना, जितना अपना विषय है, उस को विशुद्धता पूर्वक स्पष्ट जाने, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। और जो नेत्रादिक इन्द्रियों से वर्णादिकों को साक्षात् ग्रहण काल में जाने, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह वास्तव में परोक्ष प्रमाण ही है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—१—देश पारमार्थिक और २—सर्व देश पारमार्थिक। अवधि ज्ञान और मन पर्य्याय ज्ञान तो एक देश पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं, और केवल ज्ञान सर्व-देश पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। एक देश प्रत्यक्ष ज्ञान तो अवधि ज्ञानावरण कर्म अथवा मन पर्य्याय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है और सर्व प्रत्यक्ष अर्थात केवल ज्ञान, जो स्वाभाविक ज्ञान है, केवल

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्रगट होता है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—यह ज्ञान व्यवहार दृष्टि से ही प्रत्यक्ष कह दिया गया है, परमार्थ दृष्टि से तो परोक्ष ही है, क्योंकि इस के द्वारा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। जैसे आँख से किसी वस्तु के देखते ही ज्ञान हुआ कि यह वस्तु सफेद है। उस वस्तु में मलिनता का भी मिलाप है,जो साफ साफ नहीं मालूम हो सका कि कितने अंश सफेदी है और कितने अंश मलिनता है। इस लिये यह व्यवहार मात्र प्रत्यक्ष है। वास्तव में आचार्य इसे परोक्ष ही कहते हैं क्योंकि यह इन्द्रियों से होता है।

परोक्ष प्रमाण—मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान द्वारा जो जाना जाता है, वह सब परोक्ष प्रमाण कहलाता है। पांचों इन्द्रियों तथा मन इन छहों में से किसी एक इन्द्रिय द्वारा एक समय में किसी पदार्थ का सीधा जानना मति ज्ञान है, जैसे स्पर्श से शीत, उष्ण,चिकने, रूखे,नर्म, कठोर, हलके, भारी पदार्थ को जानना, रसना से खट्टे, मीठे, तीखे, चरपरे व कषायले पदार्थ को, घ्राण से सुगन्ध दुर्गन्ध को, चक्षु से सफेद, लाल, काले, नीले, पीले, पदार्थ को, कान से नाना प्रकार के शब्दों को सीधा जानना, व मन द्वारा एकाएक किसी पदार्थ को जान लेना मति ज्ञान है। मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध से दूसरे पदार्थ को या विषय को जानना श्रुतज्ञान है। जैसे किसी को कुल्हाड़ी का स्पर्श हुआ, तब कठोरता का ज्ञान मति ज्ञान है, पश्चात उस से दुःख अनुभव करना श्रुत ज्ञान है। यह अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञान है। कर्ण द्वारा शब्द सुन कर उस के अर्थ को समझना अक्षरात्मक श्रुत ज्ञान है। यह सैनी पंचेन्द्रीय के ही होता है, जैसे जीव शब्द सुन कर जीव द्रव्य का ज्ञान कर लेना। अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञान सब जीवों के होता है।

परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं १—स्मृति, २—प्रत्यभि ज्ञान, ३—

तर्क, ४—अनुमान और ५—आगम। स्मृति—जो पदार्थ पहले जाना था, बाद में किसी समय में उसे मात्र स्मरण करना अर्थात् याद करना। इसे स्मृति कहते हैं-जैसे किसी पुरुष को पहले देखा था, उसे फिर याद किया। प्रत्यभि ज्ञान। जिस किसी पदार्थ को पहले स्पर्शा, चाखा, सूँघा, देखा व सुना था उसी को फिर स्पर्श कर के, चाख कर के, सूंघ कर के, देख कर के सुन कर के, यह निश्चय करना कि यह तो वही पदार्थ है, जिसे पहले स्पर्शा, चाखा, सूंघा, देखा, सुना था। जैसे पहले किसी ने सुना था कि "गवय" जानवर गाय जैसा होता है, फिर कभी वह बन में गया और उसने उस "गवय" जानवर को देखा, तो जान लिया कि जिस गाय जैसे जानवर "गवय" की बाबत पहले सुना था, यह वही है। इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभि ज्ञान कहते हैं। ३—तर्क-व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं। "होने पर होना, न होने पर न होना" अर्थात् एक के बिना एक न हो, इसे व्याप्ति कहते हैं—जैसे अग्नि बिन धुआँ नहीं रहता। आत्मा के बिना चेतनता नहीं रहती। इसी व्याप्ति के जानने को तर्क कहते हैं। ४—अनुमान—किसी चिन्ह से पदार्थ के खास स्थान पर होने का निश्चय कर लेने को अनुमान कहते हैं—जैसे किसी पर्वत के ऊपर धूंयें को देख कर यह निश्चय करना कि पर्वत पर अग्नि है। ५—आप्त वचनों के निमित्त से पदार्थ के निश्चय करने को आगम कहते हैं, जैसे शास्त्रों से लोकादि का स्वरूप जानना।
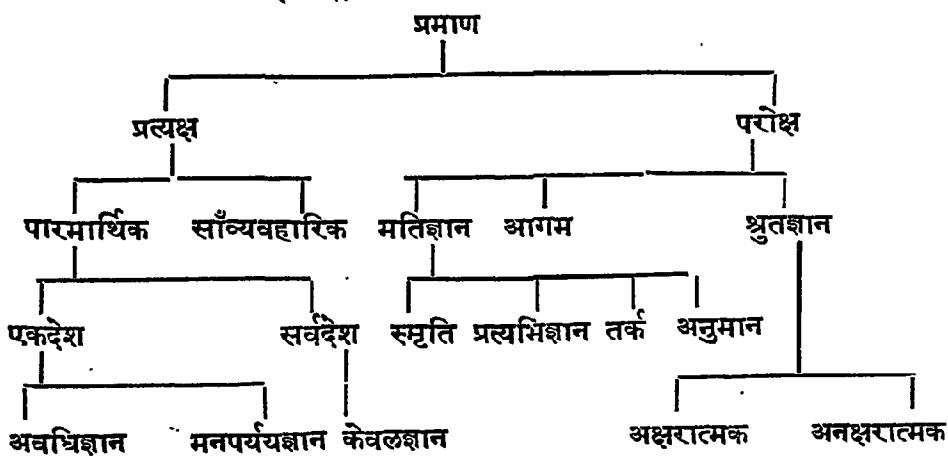
प्रमाण के अंश को नय कहते हैं। प्रमाण द्वारा जो पदार्थ ग्रहण किया था, उसके एक एक धर्म को मुख्यता से जो अनुभवन कराता है, वह नय कहलाता है। नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिकनय और पर्य्यार्थिकनय।

द्रव्यार्थिक—जो द्रव्य की मुख्यता से पदार्थ का अनुभव कराती है। अर्थात केवल द्रव्य ही मुख्यता से जिस नय का विषय है, वह द्रव्यार्थिकनय कहलाती है—जैसे "संसारी जीव सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध आत्मा है" ऐसा कहना शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है। द्रव्य नित्य है, द्रव्य सत है, द्रव्य अभेद है, यह सब द्रव्यार्थिक नय के ही विषय हैं।

इस द्रव्यार्थिक नय के ३ भेद हैं। नैगम, संग्रह और व्यवहार।

नैगम—संकल्पमात्र से ग्रहण करने को नैगम कहते हैं; जो संकल्पमात्र किसी पदार्थ को बतावे वह नैगम नय है। जितने द्रव्य हैं, वे अपनी भूत, भविष्यत, वर्तमान पर्यायों से अन्वयरूप अर्थात् जोड़ रूप हैं। अपनी किसी भी पर्याय से कोई पदार्थ भिन्न नहीं है। सो भूत पर्यायों का तथा भविष्य पर्यायों का वर्तमान काल में संकल्प करना—ऐसे ज्ञान को तथा वचन को नैगम नय कहते हैं। जैसे कोई पुरुष मेज़ बनाने को लकड़ी लाने के लिये जा रहा था, उससे किसी ने पूछा, कहाँ जा रहे हो? उसने कहा मेज़ के लिये जा रहा हूँ। अब जहाँ वह जा रहा है, वहाँ उसको मेज़ नहीं मिलेगी, लकड़ी ही मिलेगी; मेज़ तो अभी तय्यार भी नहीं हुई। वह केवल मात्र लकड़ी लाने के लिये ही जा रहा है; परन्तु यह उसके विचार में ज़रूर है कि लकड़ी लाकर मेज़ बनावे। नैगम नय से वह यह कह सकता है, कि मेज़ के लिये जा रहा हूँ। दीवाली के दिन यह कहना कि श्री महावीर प्रभु आज मोक्ष पधारे हैं, यह भूत नैगम नय का उदाहरण है। बालावस्था में ही तीर्थंकर प्रभु को कहना कि आप तारनतरन हैं; तारन तरन तो अरहन्त अवस्था में होंगे, इस समय तो नहीं परन्तु भावि नैगम

नय से कह सकते हैं। यह भावि नैगम नय का उदाहरण है। संग्रहनय—जो एक वस्तु की समस्त जाति को व उसको समस्त पर्यायों को संग्रहरूप करके एक स्वरूप कहे, उसको संग्रहनय कहते हैं। जैसे "घट" कहने से सब घटों को समझना। "द्रव्य" मात्र कह देने से जीव अजीवादिक सब ही छहों द्रव्यों को जान लेना। और भी जैसे "गाय दूध देती है" इस से यह जान लेना कि सब ही गाय दूध देती हैं। व्यवहार नय—सामान्यरूप से कहे हुए पदार्थ को, विधिपूर्वक भेदानुभेद कर विशेषरूप कहना, व्यवहार नय है। व्यवहार नय का विषय, संग्रह नय द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को भेद रूप जानना है। व्यवहार नय से ही यह जाना जाता है कि द्रव्य अनन्त गुणों तथा पर्यायों का समुदाय है। पदार्थों का स्वरूप समझने के लिये व्यवहार नय का ज्ञान आवश्यक है। उदाहरण—केवल मात्र "द्रव्य" कह देने से द्रव्यों का सामान्य रूप से ही ज्ञान होता है, परन्तु जब यह कहते हैं कि द्रव्य के मुख्य दो भेद हैं, जीव और अजीव। जीव दो प्रकार के होते हैं, संसारी और मुक्त। संसारी जीवों के भी और भेदानुभेद कर के कहना। इसी प्रकार यह कहना कि अजीव पाँच प्रकार है, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। फिर आगे इन का और विशेष कथन करना यह सब व्यवहार नय का विषय है।

२—पर्य्यार्थिक नय—जो नय द्रव्य दृष्टि से स्वरूप को गौण कर, पर्याय की ही मुख्यता से पदार्थ का ज्ञान करावे, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे यह कहना कि क्रोध भाव क्षणिक है, ज्ञान आत्मा का एक गुण है। पर्यायार्थिक नय के ४ भेद हैं, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत, ऋजुसूत्र नय—जो नय भूत, भविष्यत् पर्यायों को छोड़ कर वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करती है, उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। यह नय वर्तमान समय मात्र की पर्याय को ही ग्रहण करती है—जैसे देव को देव कहना, मनुष्य को

मनुष्य कहना। यह स्थूल पर्याय का उदाहरण है। सूक्ष्म समयवर्ती पर्याय का कथन करना बाणी से असंभव है, क्योंकि हम जब कहने लगेंगे तब उस में बहुत से समय बीत जावेंगे, और तब तक हम जिस वर्तमान अवस्था को कहेंगे वह उस समय में भूतकालीन हो जावेगी। शब्द नय—व्याकरण आदि मत से शब्द की अशुद्धताई के दूर करने को शब्द नय कहते हैं। अर्थात् जो नय व्याकरण सम्बन्धी लिङ्ग, संख्या, साधन, काल आदिक के दोषों को दूर कर के जाने वा कहे, उसे शब्द कहते हैं—जैसे नक्षत्र पदार्थ के लिये संस्कृत व्याकरण में तीन शब्द हैं—पुष्यः (पुल्लिङ्ग), तारका (स्त्री लिंग) नक्षत्रम् (नपुं० लिंग)। इन तीनों शब्दों के लिङ्ग भिन्न भिन्न हैं। एक ही पदार्थ के लिये तीन विरोधी लिङ्गों का व्यवहार विरोध रूप या दोष रूप नहीं गिना जावेगा। इसी प्रकार संख्या आदि के सम्बन्ध में भी जानना। समभिरूढ नय—वह है जिस के द्वारा एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी उस शब्द को एक ही अर्थ के प्रतिपादन में मान लिया जावे, एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उन को उल्लंघन कर के एक ही अर्थ को मुख्यता से ग्रहण करना समभिरूढ नय का विषय है। जैसे "गौ" शब्द के अर्थ अनेक हैं, मूल धातु की अपेक्षा "गच्छतीति गौ" इस वाक्य के अनुसार जो चले वही गौ होती है, परन्तु समभिरूढ नय के प्रयोग से बैठी हुई, सूती हुई को भी गौ कह देते हैं। एवंभूत नय—वर्तमान क्रिया जैसी हो उसी के अनुसार वैसा ही कहना, अर्थात् एवंभूत नय वह है जो उसी शब्द को उसी समय उस पदार्थ के लिये व्यवहार करेगी जब कि वह पदार्थ उस शब्द के अर्थ वाचक भाव में क्रिया या परिणमन कर रहा होगा। गो शब्द गौ के लिये समभिरूढ नय से प्रचालित है, परन्तु "गो" शब्द के अर्थ चलने वाले के हैं। एवंभूत नय के अनुसार "गौ" तब ही कहेंगे जब कि वह चल रही होगी, बैठी सोती हुई दशा में उस को

"गौ" न कहेंगे। जैसे कोई आदमी पूजा कर रहा है, तो जिस समय वह वास्तव में पूजा कर रहा है उसी समय में उस को पुजारी कहना, अन्य समय में नहीं। इस प्रकार यह कुल सात नय हुई। इन में से नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय और ऋजुसूत्र नय तो अर्थ नय कहलाती हैं, और शब्द नय, समभिरूढ नय और एवंभूत नय शब्द नय कहलाती हैं।
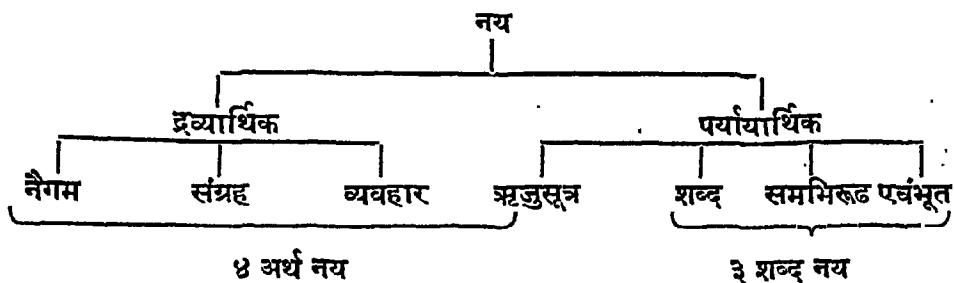
प्रमाण और नय के संयोग को "नय प्रमाणाभ्यां युक्तिः" के अनुसार युक्ति कहते हैं। यहां पर प्रमाण नय का थोड़ा सा वर्णन इस लिये किया गया है कि प्रमाण नय के बिना पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। "प्रमाण नयैरधिगमः" इस सूत्र के अनुसार पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और नय से ही होता है।

पृथगाराधनमिष्टंदर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षण भेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥३२॥

सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन के साथ ही होता है, तथापि इस का जुदा आराधन करना ही कल्याणकारी है, जिस समय आत्मा को सम्यक् दर्शन होता है, उस समय मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान तो अवश्य होता ही है, सम्यक् ज्ञान को विशेष कर जुदा आराधन करना इस कारण योग्य है; कि इन दोनों के लक्षण भिन्न भिन्न हैं। सम्यक् दर्शन का लक्षण यथार्थ श्रद्धान है, और सम्यक् ज्ञान का लक्षण यथार्थ जानना है। इस लिये इनका जुदा जुदा आराधन करना कल्याणकारी कहा गया है।

सम्यक्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

जिनेन्द्र देव ने सम्यक् ज्ञान को तो कार्य कहा है, और सम्यक् दर्शन को कारण, इस लिये सम्यक् दर्शन के बाद ही सम्यक् ज्ञान का आराधन करना योग्य है। यद्यपि मति ज्ञान और श्रुति ज्ञान पहले पदार्थों को जानते थे, परन्तु बिना सम्यक्त के उन की संज्ञा कुमति और कुश्रुति ही थी। यद्यपि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान एक ही समय में होते हैं, तौ भी इन में कार्य कारण का भेद है, जैसे—

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

दीपक का जलना और उस का प्रकाश एक ही समय में प्रगट होता है—जब तक दीपक जलता है तब तक ही उस का प्रकाश रहता है। दीपक का जलना कारण है, और प्रकाश कार्य है; ठीक इसी प्रकार यद्यपि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान एक ही समय उत्पन्न होते हैं, तथापि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान का कारण है, और सम्यक् ज्ञान कार्य है। सम्यक्त से ही ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहलाता है।

कर्त्तव्योऽध्यवसाय सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५॥

पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानना सम्यक् ज्ञान कहलाता है, और यह सम्यक् ज्ञान निश्चय नय से आत्मा का निज स्वरूप है, यह सम्यक् ज्ञान-स्व-पर प्रकाशक होता है और हमेशा, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होता है।

संशय—विरुद्ध दो तर्फा ज्ञान होने को संशय कहते हैं-जैसे रात को किसी को देख कर यह सन्देह करे कि यह मनुष्य है, या खम्भा है, या

कुछ और है। सीप के टुकड़े को देख कर यह संदेह करना कि यह सीप है या चांदी, इस प्रकार के निर्णय रहित डांवाडाल ज्ञान को संशय ज्ञान कहते हैं। विपर्यय—अन्यथा रूप एक तरफ़ी ज्ञान को विपर्यय कहते हैं, जैसे मनुष्य को खम्भा जान लेना—सीप को सीप न समझ, उस के विपरीत चांदी समझ लेना, यह विपर्यय ज्ञान है। अनध्यवसाय (विमोह), "कुछ है" केवल इतना ही जानपना होना, और ज्यादह विचार न करना, यह अनध्यवसाय है, जैसे रास्ते में चलते चलते तिनके के स्पर्श हो जाने पर यह जानना "क्या लगा"? कुछ होगा। इस प्रकार विचार रहित ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है।

ज्ञान की सत्य, असत्य, उभय और अनुभय, चार परिणति होती हैं। सत्य सम्यक्ज्ञान है, असत्य विपर्यय ज्ञान है, उभय संशय ज्ञान है और अनुभय अनध्यवसाय है। इन्हीं तीनों भावों से रहित ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। यहां प्रश्न होता है कि सम्यक्ती और मिथ्यात्वी के एकसा जानपना होने पर एक का ज्ञान सम्यक् ज्ञान और एक का मिथ्या ज्ञान क्यों कहलाता है? उत्तर—सम्यक्ती मूलभूत जीवादिक पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला होता है, इस वास्ते अन्य पदार्थ जो उस के जानने में आते हैं, वह उन सब का यथार्थ रूप ही श्रद्धान करता है; इस लिये उसका ज्ञान सम्यक् रूप है। मिथ्यात्वी को मूल पदार्थ की खबर नहीं होती, इस लिए जो पदार्थ उसके जानने में आते हैं, वह उन सब का अयथार्थ ही साधन करता है। इसी कारण उसका ज्ञान मिथ्या रूप होता है। मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अनिश्चित होता है, सम्यक् दृष्टि के समान पदार्थों को जानते हुवे भी उस के ज्ञान में पदार्थों के वास्तविक स्वरूप के जानने में कमी रहती है। उसके ज्ञान में तीन विरोध होते हैं, कारण विपर्यय, भेदाभेद विपर्यय और स्वरूप विपर्यय

विरोध रूप होने के कारण ही उस का ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाता है कारण विपर्यय,भेदाभेद विपर्यय, स्वरूप विपर्यय, इन तीनों का स्वरूप यह है कि जगत में जो पदार्थों की अवस्था बदल रही है, उसमें सच्चा कारण क्या है यह उस मिथ्या दृष्टि को प्रतीत नहीं होता है। वह कभी तो ऐसा मान लेता है कि रूपी जड़ पदार्थों का भी मूल कारण एक अमूर्तिक नित्य ब्रह्म है,कोई ऐसा मानते हैं कि पृथ्वी,जल,अग्नि तथा वायु के परमाणु भी सब अलग अलग हैं, ऐसा नहीं कि ये चार अवस्थाएँ एक पुद्गल द्रव्य की हैं। चारों ही में समान स्पर्श रस गंध वर्ण नहीं है। कोई ऐसा मानते हैं कि यह संसारी जीव भी सब एक परमात्मा ही के अंश हैं। कोई कहते हैं, चेतन अपरिणामी हैं। ये क्रोध,मान, माया, लोभ आदि सब मात्र एक प्रकृति के ही विकार हैं, जीव के भाव नहीं हैं इस, प्रकार तो कारण विपर्यय है। भेदाभेद विपर्यय यह है—कि कारण से कार्य को सर्वथा अन्य मानना व सर्वथा अन्य नहीं मानना। वास्तव में उपादान रूप से कारण के समान ही कार्य होता है, इससे तो अभेद है, तथापि पर्याय के बदलने की अपेक्षा कारण से कार्य अन्य है। इस प्रकार भेद अभेद को न समझना, सो भेदाभेद विपर्यय है। स्वरूप विपर्यय यह है—कि रूपादिक को निर्विकल्प व ब्रह्मभाव रूप समझना व उनको मात्र ज्ञानरूप समझना इत्यादि।

मिथ्या दृष्टि अपने ज्ञान से वस्तु को ठीक जान करके भी उन से संसारिक बन्धरूप अभिप्राय की सिद्धि करता है। मोक्षरूप साध्य की सिद्धि नहीं करता है। इस लिये मिथ्या दृष्टि के तीनों ज्ञान मिथ्या या विपर्यय कहलाते हैं। आगे सम्यक् ज्ञानके अष्ट अंगों का वर्णन करते हैं।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

१. शब्दाचार—व्याकरण के अनुसार अक्षर पद मात्रादि का शुद्धता

पूर्वक पठन पाठन करने को शब्दाचार कहते हैं। २. अर्थाचार—केवल यथार्थ शुद्ध अर्थ मात्र के निश्चय करने को कहते हैं। ३. उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनों के शुद्ध पठन पाठन और धारण करने को कहते हैं। ४. कालाचार—उत्तम योग्य काल में पठन पाठन कर ज्ञान के विचार करने को कालाचार कहते हैं। ५. विनयाचार—शुद्ध जल से हाथ, पांव धोकर शुद्ध निर्मल स्थान में पद्मासन बैठकर नमस्कार पूर्वक शास्त्रादिक के पढ़ने को कहते हैं। ६. उपधानाचार—धारना सहित ज्ञान की आराधना करने को कहते हैं—जो कुछ पढ़ें उसे भूल न जावें, याद रक्खें। ७. बहुमानाचार—ज्ञान का, पुस्तक पोथी और पढ़ाने वाले का पूर्ण आदर करने को कहते हैं। ८. आनिन्हवाचार—जिस गुरु से या जिस शास्त्र से ज्ञान प्राप्त करे, उसके न छिपाने को कहते हैं।

इन आठों अङ्गों सहित ही सम्यक् ज्ञान अङ्गीकार करना योग्य है।

सम्यक् चरित्र

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् दृढ़ चित्त पुरुषों को सम्यक् चारित्र की ही सेवा करनी योग्य है।

नहि सम्यग्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

यदि पहले सम्यक ज्ञान न हो, और पाप क्रियाओं को त्याग कर चारित्र भार को धारण किया जावे, तो वह चारित्र सम्यक चारित्र नहीं कहलाता। जैसे बिना जानी औषधि के सेवन करने से मृत्यु होना भी सम्भव है, वैसे ही ज्ञान बिना चारित्र का सेवन करने से संसार की वृद्धि सम्भव है।

जीव बिना मुर्दा शरीर में इन्द्रियों के आकार किसी काम के

नहीं, उसी प्रकार ज्ञान के बिना, शरीर का भेष, क्रिया काण्ड के साधन शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं करा सकते, इसी लिए यह जरूरी है कि भेद विज्ञान के पश्चात् ही विशेष चारित्र को ग्रहण किया जावे।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकल कषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत ॥३९॥

पापयुक्त मन, बचन काय के योगों के त्याग से, सम्पूर्ण कषायों से रहित, तथा निर्मल पर पदार्थों से विरक्तता रूप जो चारित्र होता है, वह आत्मा का निज स्वरूप होता है। समस्त कषायों का अभाव होजाने से यथाख्यात चारित्र होता है। सामायिक चारित्र में यद्यपि सकल चारित्री हुआ था, परन्तु संज्वलन कषाय के कारण मलीनता नहीं गई थी, इस लिए सकल कषायों से रहित होने पर भी यथाख्यात चारित्र नाम पाया, अर्थात चारित्र का जैसा स्वरूप था, वह प्रगट हो गया। प्रश्न—शुभोपयोग रूप भाव चारित्र है या नहीं ? उत्तर शुभोपयोग विशुद्ध परिणामों से होता है, और विशुद्धता मन्द कषाय को कहते हैं। इस लिए कषायों की हीनता के कारण कथंचित (थोड़ासा-देश) चारित्र कहलाता है, यदि वह शुद्धोपयोग की भावना सहित पाला जावे। प्रश्न—देव, शास्त्र, शील, तप संयमादिक में अत्यन्त रागरूप प्रवृत्ति करते हुवे मन्द कषाय कैसे कहे जा सकते हैं ? उत्तर—यह शुभ रागरूप प्रवृत्ति है, इस में विषय कषायादि राग की अपेक्षा मन्द कषाय ही हैं, क्योंकि इनके राग में क्रोध, मान, माया तो हैं ही नहीं, रहा प्रीति भाव की अपेक्षा लोभ कषाय सो वह भी संसारीक प्रयोजन युक्त नहीं है, इस लिए लोभ कषाय की भी मन्दता ही ठहरी। इसके सिवाय ज्ञानी जीव राग भावों से प्रेरा हुवा अशुभ राग को छोड़ शुभ राग में प्रवृत्ति करता है। कुछ शुभोपयोग को उपादेयरूप श्रद्धान तो नहीं करता है। इस को तो वह अपने शुद्धोपयोग

रूप चारित्र की मलिनता का कारण जानता है । अशुभोपयोग रूप कषायों की तीव्रता दूर हो जाने की अपेक्षा से ही इसे किसी प्रकार चारित्र कह सकते हैं, वास्तव में तो शुद्धोपयोग ही चारित्र है । चारित्र दो प्रकार का होता है—सकल चारित्र और देश चारित्र ।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥
निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
यात्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

सकल चारित्र—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापों के सर्वथा त्याग करने को सकल चारित्र कहते हैं । इस चारित्र का यथार्थतः पालन शुद्धोपयोग स्वरूप में आचरण करने वाले मुनि ही किया करते हैं ।देशचारित्र—हिंसादि पांच पापों के एकोदेश त्याग करने को देश चारित्र कहते हैं ।इस चारित्र के उपासक श्रावक होते हैं ।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

यदि वास्तव में देखा जावे तो यह पांचों पाप हिंसा में ही गर्भित हैं, क्योंकि यह सब आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घात का कारण हैं । इस वास्ते यह पांचों पाप हिंसा के ही भेद हैं, यहां प्रश्न होता है कि यदि ये हिंसा के ही भेद हैं तो और भेद क्यों कहे ? उत्तर यही है कि झूठ, चोरी आदिक भेद केवल मात्र शिष्यों को समझाने के अर्थ उदाहरण के तौर पर ही कहे गये हैं । अन्य पापों में भी आत्म परिणामों का घात होता है इसलिए हिंसा उन में भी दुर्निवार है ।आगे अहिंसा का स्वरूप बताते हैं।

अहिंसा

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

निश्चय से कषायरूप परिणमन से, मन,बचन,काय के योगों द्वारा अपने तथा पर के, भाव और द्रव्य रूप, दो प्रकार के प्राणों का घात करना हिंसा कहलाता है। जब किसी पुरुष के मन में, या बचन में, या काय में क्रोधादिक कषाय प्रगट होते हैं, तो उसके अपने शुद्धोपयोगरूप भाव प्राणों का घात तो पहले हो जाता है। यह हिंसा अपने भाव प्राणों के घात से हुई—यह पहली हिंसा है। अन्य जीव की हिंसा होवे या न भी होवे। बाद में यदि कषाय की तीव्रता से, दीर्घ स्वासादिक से, अपने हाथ पांव आदि से, वह अपने अङ्गों को पीड़ा उपजाता है, या अपघात द्वारा अपने प्राणों का घात कर डालता है, तो उसके अपने द्रव्य प्राणों के घात होने से, उसकी द्रव्य हिंसा होती है। यह दूसरी हिंसा है। फिर यदि कषाय के वशीभूत होकर, वह दूसरे किसी जीव से मर्म भेदी खोटे बचन कहता है, या उसकी हंसी उड़ाता है, या कोई और ऐसा कार्य करता है कि जिससे उस दूसरे का अन्तरङ्ग पीड़ित होकर कषाय रूप परिणमन हो जाता है, तो उस दूसरे के भाव प्राणों का घात होता है। यह तीसरी हिंसा है; और फिर यदि कषाय और प्रमाद के वश होकर वह उस दूसरे जीव के शरीर को पीड़ा पहुँचाता है। या उसके अङ्ग आदि छेद कर उसको प्राणान्त कर देता है, तो दूसरे के द्रव्य प्राणों का घात होता है। यह चौथी हिंसा है। इस तरह हिंसा के चार भेद हुवे, १--स्वभाव हिंसा, २—स्वद्रव्य हिंसा, ३—परभाव हिंसा, ४—परद्रव्य हिंसा।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेते जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

जीव के अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणों का घात रागादिक अर्थात (राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा, प्रमाद) भावों से होता है। इस लिये इन रागादिक भावों का अभाव ही भाव अहिंसा है। रागादिक समस्त विभाव भाव हिंसा के ही पर्याय हैं। इन विभाव भावों का आत्मा में उत्पत्ति होने का नाम ही भाव हिंसा है—जैन सिद्धान्त का यही रहस्य है। धर्मका लक्षण अहिंसा है। रागादिक विभाव भावों का अभाव अहिंसा कहलाता है। इसलिए जिस प्रकार भी बने, और जितना भी बने, रागादिक विभाव भावों का नाश करना ही धर्म है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
नहि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

यहां कोई प्रश्न करे कि हिंसा का लक्षण पर जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना मात्र ही क्यों न किया? उत्तर यह है कि इस लक्षण में "अतिव्याप्ति" और "अव्याप्ति" दोनों दूषण आते हैं, जैसा कि आगे दिखाते हैं। यदि कोई महान पुरुष ध्यान में बैठा हुवा है तथा सावधानता पूर्वक गमन आदि क्रियाओं को कर रहा है; कदाचित उस के शरीर सम्बन्ध से किसी जीव के प्राणों को पीड़ा पहुंच जाती है, तो भी उसको हिंसा का दोष नहीं लगता, क्योंकि उसके परिणामों में कषाय तो था ही नहीं, उस के परिणामों में तो शान्त भाव या दया भाव है, हिंसक भाव नहीं है। यहां जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँचते हुवे भी हिंसा नहीं कहलाई। इस प्रकार प्राणों को पीड़ा देना मात्र ही यदि हिंसा का लक्षण कहा जावे तो उस में अति व्याप्ति दूषण आता है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

यदि कोई प्रमादी जीव कषायों के वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्न पूर्वक नहीं करता है, और क्रोधादिक भाव रूप परिणमन करता है तो उस हालत में जीव मरें चाहे न मरें, वह तो कषाय भाव के कारण अवश्य ही हिंसा के दोष का भागी बन जाता है। यहां पर जीव के प्राणों को पीड़ा न होते हुवे भी प्रमाद के सद्भाव से ही हिंसा हुई। इस प्रकार यदि "प्राणों को पीड़ा देना मात्र ही" हिंसा का लक्षण कहा जावे तो अव्याप्ति दूषण आता है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥

यहां फिर कोई प्रश्न करे कि "हिंसा" शब्द का अर्थ घात करना है। पर जीव के प्राणों के घात किए बिना हिंसा कैसे हो गई ? उत्तर—हिंसा शब्द का अर्थ तो घात करना ही है, परन्तु घात दो प्रकार का होता है। एक आत्मघात और दूसरा परघात। जिस समय आत्मा कषाय भाव रूप परिणमन करता है, तो उसी समय आत्मघात हो जाता है। बाद में अन्य जीव का, यदि आयु कर्म पूरा हो गया हो या उसके पाप का उदय आगया हो, तो उसका भी घात हो जाता है। अन्यथा यदि उसका आयु कर्म पूरा न हुआ हो, या उसके पापकर्म का उदय ही न आया हो तो उसका कौन क्या कर सकता है ? उसका घात तो उसके कर्मके आधीन है। इस (हिंसक) को तो इसके भाव कषाय रूप होते ही हिंसा का दोष लग गया।

हिंसायामविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥

परजीव के घातरूप हिंसा दो प्रकार की होती है—एक अविरमण-रूप, दूसरी परिणमनरूप। अविरमणरूप हिंसा उसे कहते हैं, जो परजीव के घात में प्रवृत्ति न करते हुए भी, हिंसा त्याग प्रतिज्ञा बिना हुआ करती

है। जिस पुरुष के हिंसा का त्याग नहीं, और वह किसी समय हिंसा में प्रवृत्ति भी नहीं करता; परन्तु उसके अन्तरङ्ग में हिंसा करने का अस्तित्व भाव मौजूद है, इसलिए वह अविरमणरूप हिंसा का भागी होता है। जैसे किसी ने हरित काय (सबज़ी) का त्याग नहीं किया, और वह किसी समय सबज़ी खाभी नहीं रहा है, परन्तु उसके अन्तरङ्ग में उस हरित काय की हिंसा करने का अस्तित्व है। इसलिए वह अविरमण रूप हिंसा का भागी बनता है।

परिणमनरूप हिंसा उसे कहते हैं जो जीव के स्वपर जीव के घात में, मन, बचन, काय से प्रवृत्त होने पर होती है। इन दोनों प्रकार की हिंसाओं में प्रमाद सहित योग का अस्तित्व पाया जाता है। प्रमाद योग में स्व व पर जीव की अपेक्षा प्राणघात का सद्भाव पाया जाता है। और इसका अभाव तबही हो सकता है, जबकि जीव क्रोधादि भाव हिंसा का त्याग कर प्रमाद रूप परिणमन न करे। जब तक प्रमाद पाया जाता है, तब तक हिंसा का अभाव किसी प्रकार भी नहीं होसकता। प्रश्न—यदि आत्माके प्रमादरूप परिणामों से ही हिंसा होती है, तो बाह्य परिग्रहादि का त्याग क्यों कराया जाता है? उत्तर—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

पहले बताया जा चुका है कि आत्मा में रागादिक कषाय भावों का होना ही हिंसा है। यह रागादिक भाव परिग्रहादिक के निमित्त से ही होते हैं; इसलिए परिणामों की निर्मलता के लिए, हिंसा के ठिकाने, परिग्रहादिक का त्याग करना जरूरी है। जिस माता का सुभटपुत्र हो जाता है, उसीसे कहा जाता है कि "तेरे पुत्र को मारूंगा"। और जिस स्त्री के पुत्र ही नहीं, उसके प्रति ऐसे परिणाम कैसे हो सकते हैं, कि मैं तेरे

बांझ के पुत्र को मारूँगा। सारांश यह है कि बाह्य परिग्रहादिक के निमित्त से ही कषायरूप परिणाम होते हैं, यदि परिग्रहादिक का त्याग कर दिया जावे तो निमित्त के बिना कषाय परिणाम कैसे हो ? इसीलिए यह जरूरी है कि अपने परिणामों की शुद्धता के लिए बाह्य कारण परिग्रहादि का त्याग किया जावे ।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेवं संश्रयते ।
नाशयति करणचरणां स बहिः करणालसो बालः ॥५०॥

कोई कोई पुरुष, यथार्थ निश्चय के स्वरूप को न जानकर भी, केवल निश्चय के श्रद्धानी बनकर यह कहदिया करते हैं, कि हमारे अन्तरङ्ग परिणाम ठीक होने चाहिए। बाह्य परिग्रहादि रखने, या भ्रष्टाचार रूप प्रवृत्ति करने से हमारे में क्या दोष आसकता है? ऐसे पुरुष दया के आचरण को नष्ट करते हैं, वह नहीं समझते कि बाह्य के निमित्त से अन्तरङ्ग परिणाम भी, अवश्य अशुद्ध हो जाते हैं। बाह्य क्रिया की अपेक्षा से तो वे निर्दयी होते ही हैं, बाह्य का निमित्त पाकर जब उनके परिणाम भी अशुद्ध होजाते हैं, तो वे अन्तरङ्ग की अपेक्षा भी निर्दयी हो जाते हैं। कोई जीव ऐसे होते हैं, जो निश्चयनयके स्वरूपको तो जानते नहीं, केवल व्यवहारमात्र बाह्य परिग्रहादि का त्याग कर, उपवासादि किया करते हैं। पर जीवों की दयारूप धर्म के ही साधन में धर्म मान बैठते हैं। परन्तु शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये कोई उद्यम ही नहीं करते हैं, वे केवल व्यवहार मात्र एकान्त पक्ष को ग्रहण कर निजस्व-रूपानुभवरूप शुद्धोपयोगमई परम अहिंसा धर्म को नष्ट कर डालते हैं। इसलिए जो अहिंसा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए अभिलाषी हैं, उन्हें एकही पक्ष ग्रहण न करके निश्चय और व्यवहार दोनों ही अङ्गीकार करने चाहियें। आगे द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा की अपेक्षा से नाना प्रकार के भंगों को दिखाते हैं।

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

जिस जीव के परिणम हिंसारूप होजाते हैं, चाहे वह हिंसा का कोई कार्य न कर सके, तो भी वह जीव उदय काल में हिंसा फल को भोगेगा। और जिस जीव के शरीर से किसी कारण वश हिंसा तो हो गई, परन्तु परिणामों में प्रमाद भाव नहीं आया, तो वह हिंसा के फल भोगने का पात्र न होगा।

एकस्याल्पाहिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥

एक जीव थोड़ी हिंसा करने पर भी अपने तीव्र कषाय रूप परिणामों के कारण, उदय काल में हिंसा का बहुत फल पाता है। दूसरा कारण वश बाह्य हिंसा बहुत करने पर भी, अपने भावों की उदासीनता और मन्द कषाय रूप परिणामों के कारण, उदय काल में हिंसा का फल थोड़ा ही पाता है।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसावैचित्र्यमत्रफलकाले ॥५३॥

यदि दो पुरुष मिलकर बाह्य हिंसा करते हैं, तो उनमें से जिसके परिणाम तीव्र कषायरूप होते हैं, उसे उदयकाल में तीव्र फल को भोगना पड़ेगा। और जिसके मन्दकषाय रहते हैं, उसे उदयकाल में मन्दफल भोगना पड़ेगा।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि ।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

किसी जीवने हिंसा का विचार तो कर लिया, परन्तु अवसर न मिलने के कारण हिंसा न कर सका। अपने विचार से जो कर्म बन्ध किया, वह उदय में आगया। बाद में इच्छित हिंसा का अवसर मिलने पर वह भी कर डाली ऐसी हालत में हिंसा करने से पहले ही उसका फल भोग लिया जाता है।

किसी ने हिंसा का विचार किया, इस विचार से जो कर्म बन्ध किया वह जिस समय उदय में आया, उसी समय वह इच्छित हिंसा को करने को भी समर्थ हो सका। इस हालत में हिंसा करते समय ही उस हिंसा का फल भोग लिया गया। किसी ने हिंसा करने का आरम्भ किया, परन्तु किसी कारणवश पीछे हिंसा को नहीं कर सका, प्रारम्भजनित कर्म बन्ध का फल उसे जरूर भोगना पड़ेगा। इस हालत में हिंसा न करने पर भी हिंसा का फल भोगना पड़ेगा। सारांश यह है कि कषाय भावों के अनुसार ही हिंसा का फल भोगना पड़ता है।

एकः करोति हिंसा भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधाति हिंसा हिंसा फलभुग्भवत्येकः ॥५५॥

कहीं एक पुरुष हिंसा को करता है, परन्तु फल भोगने वाले बहुत होते हैं—जैसे कहीं कहीं दशहरे पर भैंसे को मारता तो अकेला चाण्डाल ही है; परन्तु अन्य सर्व देखने वाले जो "अच्छा अच्छा" कहते हैं, और प्रसन्न होते हैं, अपने अपने रुद्र परिणामों के कारण, हिंसा फल के भागी होते हैं। कहीं हिंसा करते तो बहुत पुरुष हैं, और हिंसा के फल का भोक्ता होता है एक ही पुरुष। जैसे संग्राम में हिंसा तो बहुत से पुरुष करते हैं, परन्तु उन का स्वामी राजा उस सब हिंसा के फल का भागी होता है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेवफलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥५६॥

किसी पुरुष को तो हिंसा उदय काल में एक ही हिंसा के फल को देती है, और किसी पुरुष को वही हिंसा बहुत से अहिंसा के फल को देती है। जैसे किसी बन में मुनिराज ध्यानस्थ अवस्था में तिष्ठते हैं। एक सिंह महाक्रूर परिणामी उनको भक्षण करना चाहता है, इतने में एक शूकर कोमल अहिंसा मई परिणामों को लिए हुए सिंह से मुनिराज की रक्षा करना चाहता

है। सिंह और शूकर दोनों परस्पर में लड़ लड़ कर मर जाते हैं। सिंह अपने क्रूर परिणामों के कारण हिंसा करते हुए नरक में जाता है। शूकर उसी हिंसा को करते हुए शुभ भावों के निमित्त स्वर्ग में जाता है।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसा फलं नान्यत् ॥५७॥

किसी को अहिंसा उदय काल में हिंसा फल को देती है,और किसी को हिंसा अहिंसा के फल को देती है। अन्य फल को नहीं। जैसे किसी के दिल में तो किसी दूसरे का बुरा करने के परिणाम हैं;बाहर से वह उसके विश्वास के निमित्त भला करता है। या यह कि बुरा करने का यत्न तो कर रहा है, परन्तु उस दूसरे जीव के पुण्य प्रभाव से उसका बुरे की जगह भला हो जाता है; तौ भी बुराई का यत्न करने वाला अपने अन्तरङ्ग में हिंसामई परिणामों के कारण,बाहर से दया करते हुए भी,बुराई के ही फल का भोगी होता है। किसी के अन्तरङ्ग में तो दया भाव है, बाहर से वह किसी जीव को दुःखी देख, उसके दुःख निवारण के यत्न में लगता है। यत्न करते करते दुःखी को तत्काल पीड़ा हो जाती है, या उस यत्न के निमित्त से ही उस दुःखी के प्राणान्त हो जाते हैं। यहाँ बाहरी हिंसा होते हुए भी,अन्तरङ्ग में अहिंसा मई परिणामों के कारण अहिंसा ही के फल की प्राप्ति होगी। जैसे कोई डाक्टर किसी रोगी को दुःखी देख कर उस पर करुणाभाव करता है,और यत्नपूर्वक उसका चीर फाड़(operation)कर उसके कष्ट को दूर करना चाहता है। चीरफाड़ करते करते यदि रोगी की पीड़ा बढ़ जाती है, या वह रोगी मर जाता है, तो डाक्टर को तो बाह्य में हिंसा होते हुए भी, अन्तरङ्ग में अहिंसा मई परिणाम होने के कारण, अहिंसा का ही फल मिलेगा।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्ध नयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥
अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

हिंसा के अनेक भेदों को वे ही गुरु समझा सकते हैं,जो नय चक्र के ज्ञाता हैं। जैन धर्म के नय चक्र का समझना बड़ा कठिन है,जो बुद्धि-मान विचार करते हैं,वे नय के(different points of view)भेदों को समझा सक्ते हैं । जो मूढ दृष्टि बिना समझे हुए हिंसा का स्वरूप मनमाना करते हैं, वे लाभ के बदले हानि उठाते हैं ।

अवबुध्य हिंस्यहिंसक हिंसा हिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

जो पुरुष सदाकाल संबर पालन करने में उद्यमवान होते हैं, उन्हें चाहिए कि वे पहले यथार्थतासे हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल, इन चारों भावों को भली भाँति जान लेवें,और फिर अपनी शक्ति अनुसार हिंसा का त्याग करें। हिंस्य-जिनकी हिंसा की जावे अपने और पर जीव के द्रव्य-प्राण और भावप्राण,अथवा एकेन्द्रियादिक जीवसमास। हिंसक हिंसा करने वाला जीव, हिंसा-हिंसा के प्राण पीड़न की अथवा प्राणघात की क्रिया, हिंसाफल—हिंसा से प्राप्त होने वाले,नर्क,निगोदादिक दुःखदायक फल ।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसा व्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उनको पहले यत्नाचार पूर्वक, मद्य, मांस, मधु इन तीनों मकार ('म' से शुरू होने वाले) और ऊमर,कठूमर,पीपल,बड़,और पाकर इन पांच फलोंका त्याग करना चाहिए।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

मदिरा—यह बड़ी ही निंद्य वस्तु है, मनको मोहित कर देती है अर्थात् जीवको बेहोश बना देती है । मोहित चित्त धर्म को भूल जाता है, और धर्म भूला जीव, बिना किसी डर के बेधड़क होकर हिंसा करने लगजाता है ।

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

मदिरा अनेक जीवों की योनि होती है, मदिरा पान करने से, उन सब जीवों का निश्चय से ही नाश होजाता है, इसलिए मदिरा सेवन में निरन्तर हिंसा का होना जरूरी है ।

अभिमानभयजुगुप्सा हास्यरतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्य्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिता ॥६४॥

मदिरा पान करने वाले से जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब हिंसा की ही पर्याय हैं अर्थात् भेद है । अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध, आदिक विभाव सर्व मदिरा के निकटवर्ती हैं । मदिरा का त्याग जीवहिंसा की दृष्टि से तथा मादकता की दृष्टि से, दोनों ही दृष्टि से करना भव्य आत्माओं के लिए अति आवश्यक है ।

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥

मांस द्वीन्द्रियादि के शरीर में ही पाया जाता है । द्वीन्द्रियादिक जीवों के घात किए बिना इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिए यह स्वयं सिद्ध है, कि मांस-भक्षी को अनिवार्य हिंसा होती है । कोई कहे कि आप से मरे हुए पशुओं का मांस भक्षण करने में हिंसा नहीं होती, तो उनका यह विचार सर्वथा गलत है; क्योंकि—

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६॥

मरे हुए जीव के मांस में, जिस जीव का कि वह मांस है, उसी जाति के निगोदरूप अनन्तजीव पैदा होते रहते हैं, इसलिए उस मांस के भक्षण में उन जीवों का घात होने से हिंसा होती है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

मांस की डलियों की सर्व ही अवस्थाओं में समय समय अनन्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। इस लिए जो पुरुष मांस की डली को भक्षण करता है, या छूता भी है, वह अनेक जीव समूह की हिंसा का भागी होता है।

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधु मूढ धीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥
स्वयमेव विगलितम् यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥ ७०॥

मधु या शहद—यह मक्खियों का उगाल होता है, इसके आश्रय भूत बहुत से जीव होते हैं। मधु छत्ते में से छल कपट करके लिया जाता है। छत्ता तोड़ने में उसके आश्रय भूत प्राणियों का घात होता है। शहद भक्षण करने वाला मनुष्य अत्यन्त हिंसा का भागी होता है। यदि छत्ते को न तोड़ कर सूराख करके शहद निकाल लिया जावे तोभी उसमें अनेक जन्तु, रस के कारण पैदा होते रहते व मरते रहते हैं। सद्गृहस्थों को इन तीनों मकारों का त्याग करना ही योग्य है।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥ ७१ ॥

श्रावक से इन तीनों का त्याग तो मुख्यतापूर्वक कराया ही जाता है परन्तु और भी वस्तुएं जैसे मक्खन, चर्मस्पर्शित घी, तेल, जल विष आदिक अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करना भी श्रावक के लिए उचित है। मक्खन से पौने दो घड़ी के भीतर ही जो घी बनाया जावे, वह घी खाने योग्य है। (मक्खन मन को विकारी बनाता है, इसलिये पौने दो घड़ी के भीतर भी न खाने योग्य है)। मधु में मधु के, मदिरा में मदिरा के, मक्खन में मक्खन के, और मांस में मांस के रङ्ग के जीव उत्पन्न हो जाते हैं, जो दृष्टि गोचर नहीं होते हैं, इस लिए महान हिंसा के कारण, इन वस्तुओं को खाना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पल फलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥ ७२ ॥

ऊमर, कठूमर, पीलूफल, बड़फल और पीपलफल ये पांचों ही त्रस जीवों की उत्पत्ति के स्थान हैं। कभी कभी उड़ते हुए जानवर इनमें दिखाई पड़ते हैं। इन के भक्षण करने से त्रस जीवों की हिंसा होती है। कोई कहे कि यदि इन को सुखाकर खा लिया जावे तो क्या दोष है ?

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपास्यात् ॥७३॥

जो पुरुष ऐसी निंद्य वस्तु को सुखाकर ग्रहण करेगा, तो उस के रागादि भावों की अधिकता तो जरूर ही होगी; और विशेष रागरूप भावों का होना ही हिंसा है। सुखाने में त्रस जीवों की विराधना होने के कारण अधिक हिंसा होगी। कोई पुरुष हरित (सबज़ी) वस्तु को तो नहीं खाता, परन्तु उस वस्तु से राग भाव कर, सुखाकर खालेता है, तो रागकी अधिकता

से वह भी एकेन्द्रियों की हिंसा का भागी बनता है। यदि राग न हो तो इतना प्रयास क्यों किया जावे ? यहां फिर कोई प्रश्न करे कि यदि सूखी वस्तु में भी दोष है, तो अन्न क्यों खाया जाता है ? प्रथम तो अन्न निंद्य वस्तु नहीं है, दूसरे वह रागभाव बिना साहजिक प्रवृत्ति से ही सूख जाता है। अन्न को साधारणतया पेट भरने की गरज से ही खाया जाता है, वह कोई विशेष राग होने का कारण नहीं। विशेष रागरूप परिणामों के होने को ही हिंसा बतलाया गया है, इस लिये, अन्न के खाने में वह दोष नहीं होता, जो पंच उदम्बर और अन्य हरित वस्तुओं को सुखाकर खाने में होता है। हरित वस्तु को बनाकर व सुखाकर खाना दोनों ही समान हिंसा कारक हैं।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनायाभवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

ऊपर कहे हुए तीनों मकार और ऊमर आदि पांचों फल, ये आठों ही महापाप के कारण हैं। इनके सर्वथा त्याग द्वारा, निर्मल बुद्धि को धारण कर के ही, जीव जिन धर्म के उपदेश का पात्र होता है, इनके त्याग बिना श्रावक नहीं हो सकता, जैसे जड़के बिना वृक्ष नहीं हो सकता। इसी लिये इनके त्याग को "अष्टमूल गुण" कहा जाता है।

धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोपि ये परित्यक्तम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसा तेऽपिमुञ्चन्तु ॥७५॥

जो जीव अहिंसा धर्म को अच्छी तरह सुनकर भी स्थावर जीवों की हिंसा छोड़नेको असमर्थ है, उन्हें त्रस जीवोंकी हिंसा तो छोड़नी ही चाहिये।

कृतकारितानुमननैर्वाक्काय मनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकीत्वेषा ॥७६॥

हिंसादिक का त्याग दो प्रकार का होता है। एक उत्सर्ग त्याग और दूसरा अपवाद त्याग। सामान्यतः सर्वथा त्याग को उत्सर्ग कहते हैं। इस

के कृत, कारित अनुमोदनारूप, मन, वचन, काय करके नव भेद होते हैं। मन से, बचन से, काय से आप न करना, दूसरे से न कराना और करने वाले को भला नहीं समझना। इन नौ भेदों में से किसी भेदका थोड़ा बहुत किसी रीति से त्याग करने को, अपवाद त्याग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारण विरमाणमपि भवति करणीयम् ॥७७॥

हिंसा का सर्वथा त्याग तो मुनि धर्म में ही हो सकता है। यदि कोई मुनि धर्म को नहीं ग्रहण कर सकता, तो उसे श्रावक का धर्म पालन करते हुए, त्रस जीवों की हिंसका तो त्याग अवश्य ही कर देना चाहिये। गृहस्थी एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, तो भी वृथा हिंसा तो नहीं करनी चाहिये। प्रयोजन सिवाय, अन्य स्थावर जीवों की हिंसा जो असावधानी से प्रवृत्ति करते हुए होती है, उस का तो अवश्यही त्याग कर देना चाहिये। श्रावक को दयालु होना योग्य है। त्रस तथा स्थावर जीवों का व्यौरा निम्न प्रकार है।
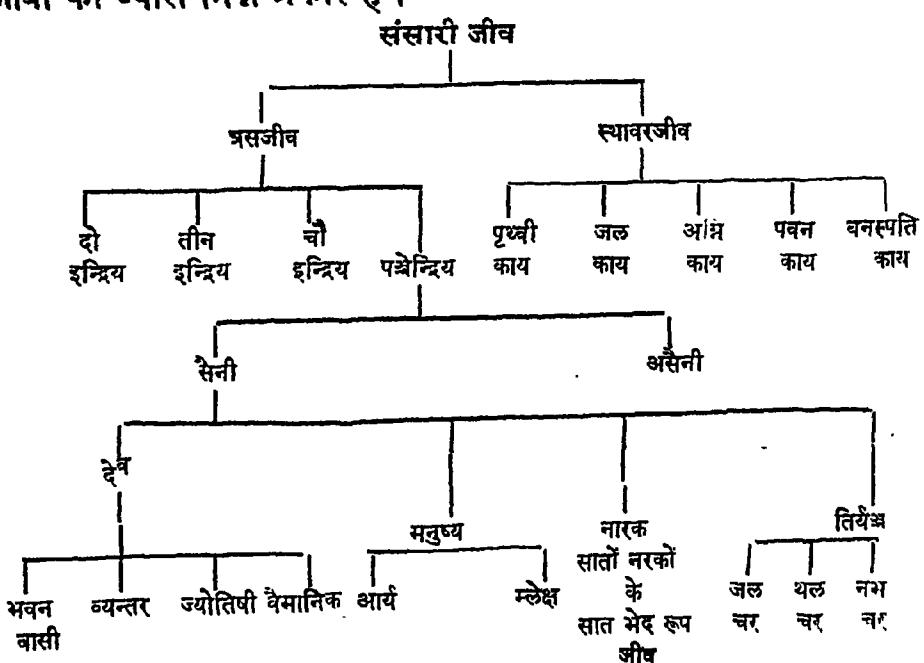
अमृतत्वहेतुभूतं परममाहिंसारसायणं लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥७८॥
सूक्ष्मोभगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ॥७९॥

किसी जीव को हिंसा करते हुवे भी (उसके पूर्व पुण्योदय के कारण) सुखसातायुक्त देख कर; और अपने आपको अहिंसा धर्म का पालन करते हुवे भी, (पूर्व पापोदय के कारण) दुःखी जानकर, धर्म में आकुलता नहीं करनी चाहिये। यह विचारना चाहिये कि हिंसा का फल तो दुःखरूप ही है। यह जो हिंसा करते हुवे भी सुख सामग्री को भोग रहा है, यह उसके पूर्व उपार्जित पुण्य का फल है। और मैं जो अब अहिंसा धर्म का पालन करते हुवे भी दुःखी हूँ, यह दुःख अहिंसा का फल नहीं है, यह मेरे किसी पूर्वबन्ध पापकर्म का ही फल है। अहिंसा तो सुखरूप ही है। कभी ऐसा होता है कि एक अहिंसा धर्म का पालन करने वाला किसी मिथ्यादृष्टि को हिंसा में धर्मसिद्ध करते हुवे, और उसकी पुष्टि करते हुवे देख कर, धर्म से डिगने लगता है। जो वास्तव में धर्मात्मा होते हैं, वे मिथ्या दृष्टियों के फन्दे में नहीं फँसते हैं, स्वयम वस्तु स्वरूप को विचार अपने धर्म में दृढ़ रहते हैं। कोई कोई अज्ञानी यह कह दिया करता है, कि हिंसा में पाप तो बेशक है, परन्तु यज्ञादिक में धर्म के निमित्त हिंसा करने में कोई दोष नहीं है। ऐसा श्रद्धान कर, हिंसा में प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है; क्योंकि जहाँ हिंसा है, वहाँ हिंसा में धर्म कदापि नहीं हो सकता। यहाँ यह प्रश्न होता है कि जैनमत में भी तो मन्दिर का बनवाना पूजा प्रतिष्ठादि करना कहा गया है, तो क्या इन कार्य्यों में धर्म है या नहीं? उत्तर यह है कि मन्दिर बनवाना, पूजा प्रतिष्ठादि के कार्य, यदि यत्नाचार रहित, बेपरवाई से, केवल मान बड़ाई के वास्ते किये जावें तो

धर्म नहीं हो सकता, पाप ही होगा। और यदि यत्न के साथ, धर्म बुद्धि पूर्वक किये जावें, तो आरंभ जनित हिंसा तो थोड़ी ही होती है, जिसका फल भी तुच्छ होता है। परन्तु धर्मानुराग के कारण पुण्यबन्ध विशेष होता है। हिंसा का पाप, पुण्य की अपेक्षा बहुत ही अल्प होता है। इसके सिवाय ऐसे शुभ कार्यों में धन खर्च करने से लोभ कषाय रूप अन्तरंग हिंसा का त्याग होता है। हिंसा का मूल कारण कषाय है, तीव्रकषाय रूप होकर, बाह्य हिंसा न करते हुवे भी पाप होता है। इसलिये पूजा प्रतिष्ठादि शुभ कार्य करने में विशेष धर्म ही होता है। जैसे समुद्र में एक बूंद विष की कुछ दोष नहीं कर सकती। ऐसे ही शुभकार्यों के करने में जो हिंसा का पाप होता है, वह पुण्य बन्ध की अपेक्षा बहुत थोड़ा होता है, और वह कोई दोष नहीं कर सकता। यह धन शुभकार्य के सिवाय यदि पापकर्मों में खर्च किया जाता तो महान पाप के बन्ध का कारण होता। इस अपेक्षा से भी इस को शुभकार्य में खर्च करना अच्छा है। ऐसा करने से पापों से दूर रह शुभ मार्ग की ही प्रवृत्ति होती है। ऐसा शुभ कार्य आरम्भी श्रावक किया करते हैं। इस लिये सामान्यतया ऐसा उपदेश दिया गया है। इसमें प्रयोजन अन्तरंग भाव अहिंसा या वीतरागता के बढ़ाने का है, हिंसा का प्रयोजन नहीं है, आरम्भी हिंसा का बचाना अशक्य है।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिहसर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य न देहिनो हिंस्याः॥८०॥

कोई कोई कहा करते हैं कि जब देवता धर्म का कर्ता है तो, उनके निमित्त तो पशुओं के मांसादिक की बलि आदि सब कुछ दे देना योग्य ही है। ऐसा कह देना विवेकशून्य है। यह कदापि मानने योग्य नहीं है।

पूज्यनिमित्त घाते छगादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥८१॥

देवताओं के लिए, अथवा श्रेष्ठ पूज्य पुरुषों के सत्कार आदि के लिए भी जीवादिक का घात करना कभी भी पुण्य का कारण नहीं हो सकता। हिंसा में दोष ही दोष है, हिंसा में धर्म मान लेना बड़ी भारी भूल है। तथा कोई देवी देवता पशु बलि से प्रसन्न होगा, या कोई माननीय पुरुष राजी होगा, यह हमारी कल्पना झूठी है, देवी देवता व बड़े पुरुष पशुओं के भी मान्य हैं, पशु उनके सामने दीन हैं। उनको कष्ट पहुँचाने से वे राजी कैसे हो सकते हैं ?

बहुसत्वघातजनिता दशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

कभी कभी यह कुतर्क की जाती है कि अन्नके आहार में बहुत से जीव मरते हैं, उनके बदले यदि एक बड़ा जानवर मारकर खालिया जावे तो भला है। ऐसा कहना मूर्खतापूर्ण है; क्योंकि हिंसा तो प्राणघात से होती है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीव के द्रव्य प्राण और भाव प्राण बहुत ज्यादा होते हैं। इसलिए बहुत से छोटे छोटे जीवों के घात से भी बड़े प्राणी के मारने से बहुत हिंसा होती है। जब एक जीव के घात से द्वीन्द्रिय जीव के घात में असंख्यात गुणा पाप है, तो पञ्चेन्द्रिय के मारने में तो और भी ज्यादह पाप है। तथा जलादि एकेन्द्रियों के बिना तो किसी का कार्य भी नहीं चल सकता। मांसादि कोई आवश्यक नहीं है। बड़े पशु को मार कर उसकी और उसके आश्रित अनेक जीवों की क्यों हिंसा की जावे।

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जविहरणेन ।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

कोई कोई ऐसा विचार प्रकट किया करते हैं कि सर्प, बिच्छू, सिंह आदिक हिंसक जीवों के मार डालने से, और अनेक जीवों की रक्षा होगी इस वास्ते इनके मारने में पाप नहीं होगा। ऐसा पाप श्रद्धान करना भी

ठीक नहीं है। क्योंकि जो हिंसा यह जीव करते हैं, उसके पाप के भागी यह ही होंगे। लोक में अनेक जीव पाप पुण्य किया करते हैं हम उनकी चिन्ता कहां तक करें। हिंसक जीव जो हिंसा करते हैं, वह पाप कर्म का बन्ध करेंगे, हम उनकी हिंसा करके क्यों पाप उपार्जन करें। यदि हमभी उनकी हिंसा करें, तब हम भी हिंसक होजायेंगे। सर्प, सिंहादिक सताए जाने पर व भय पाने पर हमला करते हैं, अन्यथा वे अपने काम में लगे रहते हैं। उनके मारने में धर्म मानना मिथ्या श्रद्धान है। परन्तु यदि कोई मानव सर्प या सिंहादि से मारा जाता हो तो हमें मानव को बचाना योग्य है, क्योंकि उसके प्राण उस पशु की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हैं। तब यदि सर्प या सिंह की हिंसा होगी, वह हमारे द्वारा आरम्भी हिंसा होगी। हमने मानव को बचाया, यह तो धर्म किया, परन्तु आरम्भी हिंसा की यह पाप किया। यहां पाप कम, पुण्य अधिक है।

बहुसत्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥८४॥

बहुत जीवों के घाती जीव जैसे चिड़ीमार आदि "यदि यह जीते रहेंगे तो और अधिक पाप करेंगे" इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिये, वह हिंसक जीव अपने पाप के भागी आप बनते हैं। हमारे से बन सके तो हम उनसे इस पाप क्रिया के छुड़ाने का यत्न करें, और उनको कल्याण के मार्ग पर लगा देवें। मार देने से उनका आत्मा हिंसक भावों से छूट नहीं सकता।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासना कृपाणीमादाय नदुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥८५॥

बहुत से यह कहा करते हैं कि जो जीव रोग अथवा दरिद्र आदि दुःखों से बहुत ही दुःखी हो रहा हो, यदि उसको मार दिया जावे तो वह

तत्कालीन दुःखों से तो अवश्य छूट जावेगा। यह भूल है, ऐसा मिथ्या श्रद्धान कभी भी नहीं करना चाहिये। प्रथम तो कोई जीव केवल शरीर त्याग देने से दुःख से नहीं छूट सकता, दूसरे यह अटल नियम है कि उसे अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा, चाहे वह इसी जन्म में भोग लेवे, चाहे दूसरे किसी जन्म में। जैसा जिस जीव के कर्मोदय होता है, उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। घात करने से प्राणों को पीड़ा होती है, जो हिंसक तथा हिंस्य दोनों के लिये ही अशुभ बन्ध का कारण होती है। हमें उचित है कि कष्ट प्राप्त मानव की सेवा करें, ऐसी शिक्षा देवें कि वह दुःख उसे कम मालूम पड़े। मार डालना कोई सेवा नहीं है, न किसी को यह हक है कि दूसरे प्राणी को मार डाले। कष्ट पीड़ित प्राणी कष्ट से मुक्त भी हो सकते हैं।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६॥

कुछ पुरुषों का यह मत होता है, कि बड़े बड़े कष्ट सहन करने से ही, सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये यदि सुखी जीवों को काशी करौत आदि की रीति से कष्ट देकर मार डालें तो परलोक में भी यह सुखी रहेंगे। यह श्रद्धान भी मिथ्या श्रद्धान ही है। सुखी तो सत्यार्थ धर्म के साधन से होते हैं, न कि इस प्रकार सुख में मरने मारने से।

उपलब्धि सुगतिसाधनं समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिताः॥८७॥

कोई कोई मिथ्या दृष्टि यह श्रद्धान कर बैठते हैं, कि हमारे गुरु ने बहुत दिनों तक अभ्यास किया है, और अब समाधि में लीन हो रहे हैं, इस समय यदि इनको प्राणान्त कर दिया जावे, तो उच्चपद को प्राप्त हो जावेंगे। ऐसा मिथ्या श्रद्धान कर शिष्य को अपने गुरु का सिर काटना योग्य नहीं है। गुरु महाराज तो अपने अभ्यास आदि का फल आप ही आगे या पीछे पा

लेवेंगे, शिष्य को पापकर्म के बन्ध करने के सिवाय और क्या मिलेगा? कुछ नहीं। गुरु का जीवन जब तक वह जीवित रहेंगे अधिक आत्मोन्नति कर सकता है।

धनलवपिपासिताना विनेय विश्वासनायदर्शयताम्।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥८८॥

खारपटिक मत के मानने वाले कहा करते हैं कि जैसे कोई चिड़िया घड़े में बन्द हो तो जितना जल्दी उस घड़े को फोड़ दिया जावे, उतनी ही जल्दी उस चिड़िया की मुक्ति हो जाती है। ठीक उसी प्रकार यदि किसी के शरीर का नाश कर दिया जावे तो बन्धन से रहित होकर जीव की मुक्ति हो जाती है। ऐसा मिथ्या श्रद्धान कर किसी भी जीव को अपने तथा अन्य के शरीर को कभी भी नाश नहीं करना चाहिये। क्योंकि किसी का बंध करने से यद्यपि स्थूल शरीर छूटेगा, परन्तु अष्ट कर्मों का रचा हुवा सूक्ष्म शरीर नहीं छूट सकता है, वह तो आत्मध्यान की अग्नि से ही जल सकता है।

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निज मासदानरभसादालभनीयो नचात्मापि ॥८९॥

बहुत से पुरुष इसी में पुण्य समझ बैठते हैं, कि यदि कोई भूखा मनुष्य सामने आकर खाने के लिये याचना करे, तो उस पर दया करके अपने शरीर का मांस दे डाले। यह स्वात्मघात है, ऐसा नहीं करना चाहिये। मांस का दान अति निन्द्य और धर्म विरुद्ध है तथा हिंसा का कारण है। उसे भक्ष्य पदार्थ ही खाने के लिये देकर सन्तोषित करना योग्य है।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्यगुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसा विशुद्धमतिः ॥९०॥

जिस किसी ने नयभङ्ग के ज्ञाता गुरु महाराज से जिनमत के रहस्य को समझ कर अहिंसा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है, वह

कभी भी हिंसा में धर्म मानने वाले मतमतान्तरों के फन्दे में नहीं फँस सकता।

छेदनताड़नबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसा व्रतस्येति ॥१८३॥

अहिंसा अनुव्रत के ५ अतिचार हैं। १—छेदन अतिचार, किसी जीव के हाथ पाव आदि अङ्ग तथा नाक कान आदि उपङ्गों को काट कर या छेद कर दुःख पहुँचाना। २—ताड़न, लकड़ी, कोड़ा, चाबुक आदि से मारना, पीटना। ३—बन्धन, पशु आदि जीवों को बांध कर रोके रखना। ४—अतिभारारोपण, शक्ति से अधिक बोझ भार का लादना। ५—अन्नपाननिरोध, खाना पीना न देकर भूखा प्यासा रखना। इन अतिचारों से व्रत का एकोदेश भङ्ग होकर अहिंसा व्रत में दोष लगता है। जहां कषाय या प्रमाद वश होकर बर्ताव होता है, वहां अतिचार होते हैं। अन्तरङ्ग में सुधार के हेतु से किसी को दंड देना अतिचार नहीं है, जैसे अपराधी को कैद में डालना, विद्यार्थी को, अपराध होजाने पर, ताड़ना करना अथवा उपवास आदि अन्य दण्ड देना। इस प्रकार अहिंसा के स्वरूप को भली भांति जान, ज्ञानी तथा विवेकीजनों का यह कर्तव्य है, कि अपने अपने पद के अनुसार हिंसा को त्याग, अहिंसा धर्म का पालन करें। अहिंसा धर्म के पालन करने से ही यह जीव धर्म मार्ग को ग्रहण कर अपना आत्म कल्याण कर सकता है।

सत्य व्रत

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१॥

प्रमाद कषाय के योग से स्व तथा पर को हानिकारक अथवा अन्यथा रूप बचन कहने को अनृत या असत्य कहते हैं, इसके चार भेद हैं।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिद्ध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तित्वरूप (मौजूद) वस्तु को नास्तिरूप (गैर मौजूद) कहना असत्य का पहला भेद है—जैसे देवदत्त नाम का कोई पुरुष किसी जगह बैठा हुआ है, उसके बारे में किसी ने प्रश्न किया कि देवदत्त है ? तो उत्तर में कहना कि नहीं है। यहां पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका संक्षिप्त स्वरूप जान लेना जरूरी है। द्रव्य—जो सत हो,अर्थात जिसकी सत्ता सदा बनी रहे। द्रव्य का यह (सत)लक्षण,उत्पाद,व्ययध्रुवपने कर सहित होता है। गुण तथा पर्यायों के समुदाय का नाम ही द्रव्य है। क्षेत्र—जिस क्षेत्र को रोक कर द्रव्य उस में स्थित हो,वह उसका क्षेत्र कहलाता है। काल—जिस काल में द्रव्य जिस रूपसे परिणमे,वह उसका काल कहलाता है। भाव—द्रव्य का निज भाव।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥९३॥

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नास्तिरूप वस्तु को अस्तिरूप कह देना असत्य का दूसरा भेद है। जैसे किसी जगह घड़े के द्रव्य क्षेत्र काल, भाव का अस्तित्व नहीं है, वहां किसी के प्रश्न करने पर कि घड़ा है ? यह कह देना कि घड़ा है। अर्थात घड़े के न होते हुवे यह कह देना कि घड़ा है, असत्य का दूसरा भेद है।

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥९४॥

अपने चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) से विद्यमान भी पदार्थ को अन्य स्वरूप कहना तीसरा भेद है। जैसे किसी जगह बैल स्वचतुष्टय से मौजूद है, तब वहां किसी के यह पूछने पर कि वहां क्या है ? यह कह

देना कि घोड़ा है। अर्थात कुछ का कुछ कह देना असत्य का तीसरा भेद है।

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधामतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥९५॥

४—अनृत का चौथा भेद तीन प्रकार है। गर्हित, सावद्य और अप्रिय।

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गादितम् ॥९६॥

(क) गर्हित—जिन वचनों में दुष्टता होवे, जिन से दूसरों का बुरा होवे, अपने को रौद्र ध्यान होवे। ऐसे हँसी मजाक के बचन जिनसे दूसरे जीवों का मर्म छेद होवे। कठोर, मिथ्या श्रद्धान रूप बचन, प्रलाप अर्थात व्यर्थ के गपशप, तथा और भी अनेक शास्त्र विरुद्ध बचन गर्हित अर्थात निन्द्य कहलाते हैं।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्य्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

(ख) सावद्य—"अवद्य" का अर्थ "पाप"। जिन बचनों से पाप की प्रवृत्ति होती है; वे सावद्य वचन कहलाते हैं। जो अन्य जीवों के छेदने, भेदने मारने, काटने, खैंचने रूप बचन है, अथवा हिंसा मई व्यापाररूप बचन हैं या चोरी रूप बचन हैं, यह सबही सावद्य बचन कहलाते हैं, क्योंकि इन बचनों से प्राणियों के घातरूप हिंसा आदि पापों की प्रवृत्ति होती है।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् ।
पदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

(ग) अप्रिय—जो बचन दूसरे जीवों के अप्रीति करने वाले, भय करने वाले, वैर शोक तथा कलह करने वाले होते हैं, सब अप्रिय वचन कहलाते हैं।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् ।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९॥

पहले बता चुके हैं कि जिस जगह प्रमाद अर्थात् बहुकषाय होते हैं वहां ही हिंसा होती है। असत्य भाषण तथा झूठ बोलना भी कषाय के कारण से ही होता है, इसलिए असत्य बचन में हिंसा अवश्य होती है।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

अनृत बचनों के सर्वथा त्यागी महा मुनीश्वर, हेयोपादेय का उपदेश बारम्बार करते हैं। पुराण और कथाओं में नाना प्रकार के अलङ्कार गर्भित नवरसपूर्ण विषयों का वर्णन करते हैं। पाप की निन्दा करते हुए, पापी जीवों को उनका उपदेश अप्रिय लगता है। कोई कोई उनको अपने प्यारे बन्धुओं तथा रिश्तेदारों को धर्मोपदेश देते हुए देख कर दुःखी होते हैं। परन्तु उन आचार्यों को अनृत बचन का दोष नहीं लगता, क्योंकि उनके बचन कषाय प्रमाद सहित नहीं हैं। प्रमाद सहित योग से यथार्थ बचन बोलने का नाम ही अनृत है।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

मुनिराज तो सर्वथा ही समस्त अनृत का त्याग किया करते हैं, परन्तु गृहस्थों के अपने संसारिक कार्य सावद्य बचनों के बिना नहीं चल सकते। उनके लिए यह उचित है कि वह सावद्य को छोड़ बाकी समस्त अनृत बचनों का त्याग करें और सावद्य बचन भी केवल उतना ही कहें जितना उन्हें अपने भोग उपभोग के निमित्त लाचारी से कहने पड़े, बाकी उसका भी त्याग करें।

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती ।
न्यासापहारवचनं साकारकमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

सत्याणुव्रत के ५ अतिचार हैं। मिथ्योपदेश—शास्त्र के विरुद्ध कुछ का कुछ झूठा उपदेश देना। रहोभ्याख्यान—स्त्री पुरुषादि की गुप्त बार्ता

तथा गुप्त आचरणों को प्रकट करना—कूटलेख क्रिया—झूठे खत, कागज़ दस्तावेज़ादिक का लिखना, बनाना, जालीफर्ज़ी दस्तावेज़ बनाना। न्यासापहार—कोई पुरुष रुपया, जेवर आदि द्रव्य धरोहर रख जावे, फिर मांगने आवे, यदि वह भूल कर थोड़ा मांगने लगे, उस से उस समय इस प्रकार कहना कि जितना और जो कुछ तुम्हारा हो ले जाओ, इस प्रकार जान बूझ कर पूरा द्रव्य न देना। साकार मन्त्र भेद—किसी के चेहरे आदि की चेष्टाओं से उसके मन का गुप्त अभिप्राय जानकर प्रगट कर देना, या कहीं चार आदमी गुप्त सम्मति कर रहे हों, उनके मुखादि की चेष्टा से उनका भेद जानकर के दूसरों को प्रगट कर देना जिससे उनकी हानि सम्भव है। इस प्रकार सत्यव्रत के स्वरूप को जानकर मोक्षाभिलाषी भव्यात्माओं को सत्यव्रत को ग्रहण कर अपना आत्म कल्याण करना चाहिए।

अचौर्यव्रत

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

लोभादि प्रमादों के योग से, दूसरों के वस्त्रादिक पदार्थों को बिना उन के दिये अङ्गीकार करने का नाम स्तेय अर्थात् चोरी है। दूसरे की गिरी हुई पड़ी हुई वस्तु को उठा लेना, जबरदस्ती करके ले लेना, ठगी करके भोले मारकर किसी न किसी प्रकार स्वामी की आज्ञा बिना वस्तु का ले लेना चोरी है। चोरी करने में भी हिंसा होती है—अन्य जीव के प्राणघात करने के हेतु से, प्रमाद अर्थात् कषायमई भाव होते ही, चोरी करने वाले के भाव प्राणों का तो घात हो ही जाता है। चोरी प्रगट हो जाने पर राजा की ओर से दण्ड मिलने पर या मार पीट होजाने से उसके द्रव्य प्राणों का भी घात हो जाता है। जिस पुरुष की वस्तु चोरी जाती है, इष्टवस्तु के वियोग से उसके अन्तरङ्ग में पीड़ा होने के कारण उसके भाव प्राणों की हिंसा

होती है, वस्तु के हरण होने से उसके द्रव्य प्राणों का घात भी सम्भव है। प्रथम तो कभी कभी ऐसा होता है कि निमित्त पाकर, वियोग के कारण वस्तु का स्वामी आप ही अपना घात कर डालता है, दूसरे चोरी गई वस्तु के निमित्त से उसके द्रव्य प्राणों की पुष्टि होती थी, वह पुष्टि कम हो जाती है। इसलिए उस वस्तु के गुम हो जाने से स्वामी के द्रव्य प्राणों का घात ही अवश्य हो जाता है।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

जिस प्रकार संसारी जीवों के, उन के जीवन के कारण-भूत इंद्रिय श्वासोश्वासादि अन्तरङ्ग के प्राण होते हैं, वैसे ही धन धान्य सम्पदा, बैल घोड़ा, दासी, दास, महल, जमीन, पुत्र, स्त्री, वस्त्राभूषण आदिक जितने पदार्थ पाये जाते हैं, वे सब उनके जीवन के कारण भूत बाह्य प्राण हैं। उन में से किसी एक पदार्थ का वियोग हो जाने पर, जीवों को प्राणघात के समान दुःख होता है। इसी कारण जो जीव जिस के धनादिक वस्तु का हरण करता है, वह उस के प्राणों का ही हरण करता है। इस प्रकार चोरी में साक्षात हिंसा है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥

चोरी के इस लक्षण में कि जहां चोरी होती है, वहां हिंसा अवश्य होती है, अव्याप्ति दूषण नहीं आता है, क्योंकि प्रमाद के बिना चोरी होती नहीं, और जैसा पहले बता चुके हैं, जहां प्रमाद होता है वहां हिंसा अवश्य होती है।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥१०५॥

बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने को चोरी कहते हैं, सो वीतराग अर्हन्त देव भी जिस समय द्रव्य कर्म, नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करते हैं, तो उनको भी चोरी का दोष लगता है, क्योंकि वह वर्गणायें किसी की दी हुई तो नहीं होतीं। ऐसी तर्क करना ठीक नहीं है। वीतराग देव हिंसक नहीं हैं। मोहनीय कर्म के सर्वथा अभाव हो जाने से, प्रमाद योग रूप कारणों का भी अभाव है। इस लिए ऊपर कहे हुए चोरी के लक्षण में अति व्याप्ति दूषण भी नहीं आ सकता, क्योंकि प्रमाद योग से, दूसरों की बिना दी हुई वस्तुओं के अङ्गीकार करने का नाम ही चोरी है। कार्माण वर्गणाओं में चोरी का व्यवहार नहीं होता, क्योंकि जहां लेना देना रूप व्यवहार सम्भव होता है, वहां ही चोरी का दूषण आता है। इस प्रकार जहां चोरी है वहां हिंसा अवश्य है अर्थात् स्तेय हिंसा रूप ही है।

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

चोरी का सर्वथा त्याग तो मुनि धर्म में ही हो सकता है। जो पुरुष सर्वथा त्याग करने के लिए असमर्थ हों, उन्हें एक देश त्याग तो अवश्य ही कर देना चाहिये। एक देश त्यागी (श्रावक) कुएँ, तालाब आदि का जल, खेत की साधारण मिट्टी आदि जिन के बिना दिए ग्रहण करने में संसार में चोर नहीं कहलाता, ग्रहण कर सकता है। ऐसी वस्तुओं के सिवाय बाकी और सब ही बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का त्याग करना ही योग्य है। सर्वथा त्यागी तो जल तथा मिट्टी भी बिना दिए ग्रहण नहीं कर सकता।

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

अचौर्याणु व्रत के ५ अतिचार हैं। स्तेन प्रयोग—चोरी करने के उपाय बताना, चोरी करने वालों की सहायता करना। तदाहृता दान—चोरी का माल लेना। विरुद्ध राज्यातिक्रम—अप्रबन्ध या विरुद्ध राज्य का प्रबन्ध होने पर मर्यादा को उल्लंघन कर बर्तना, नीति छोड़ कर लेन देन करना। हीनाधिक मान करण—लेन देन के बाट, तराजू गज़ आदि का कम ज्यादह रखना। प्रतिरूपक व्यवहार—अच्छी चीज़ में खोटी चीज़ मिला कर, और अच्छी कह कर बेचना—कम क़ीमत वाली चीज़ को ज्यादह क़ीमत वाली चीज़ में मिला कर बढ़िया कह कर बेचना।

शील तथा ब्रह्मचर्य व्रत

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७॥
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसिविनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥

पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, इन तीनों वेदों के राग रूप योग से, स्त्री पुरुष का मिल कर काम सेवन करने का, या काम सेवन का विचार करने का नाम ही अब्रह्म अर्थात् कुशील है। हिंसा के बिना अब्रह्म होता ही नहीं। अब्रह्म में हिंसा का सब ही स्थानों में सद्भाव पाया जाता है। मैथुन सेवन में योनि और वीर्य के जीवों के द्रव्य प्राणों का घात तो अवश्य ही होता है।

यदपि क्रियते किंचित्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥
ये निज कलत्रमात्रं परिहर्तुंशक्नुवन्ति नहि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

काम रूप परिणामों से स्त्री पुरुष दोनों के भाव प्राणों का घात होता

है, शरीर में शिथिलतादिक अन्य निमित्तों के कारण द्रव्य प्राणों की भी हिंसा होती है। इसके सिवाय काम की तीव्रता के कारण मैथुन सेवन करने योग्य अङ्गों को छोड़, अन्य अङ्गों द्वारा जो अनङ्ग क्रीड़ा की जाती है, उसमें भी रागादिक कषायों की बाहुल्यता के कारण हिंसा अवश्य होती है। मैथुन सेवन का त्याग भी दो प्रकार का ही है,एक सर्वथा त्याग और दूसरा एक देश त्याग। इनमें से सर्वथा त्याग तो मुनि धर्म में ही हो सक्ता है। जहां तक बन सके सर्वथा त्याग करना ही योग्य है। यदि इतनी सामर्थ न होवे तो एक देश त्याग तो श्रावक को अवश्य ही करना चाहिए, श्रावक धर्म में अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय वेश्या, दासी, परस्त्री का सेवन करना सर्वथा त्याज्य है।

स्मरतीव्रभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयन करणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥

ब्रह्मचर्याणु व्रत के ५ अतिचार हैं। कामतीव्राभिनिवेश—काम सेवन की अत्यन्त अभिलाष रखना, वा काम क्रीड़ा में अत्यन्त मग्न रहना अनङ्गक्रीड़ा—काम क्रीड़ा के अङ्गों को छोड़ कर अन्य अङ्गों से काम-क्रीड़ा करनी। पर विवाह करण—दूसरे के लड़कों,लड़कियों का विवाह करा देना। परिगृहीतेत्वरिकागमन—दूसरे की विवाही हुई शीलभ्रष्ट स्त्री के हां आना जाना, कुवचनालाप करना, कुचेष्टा करना। अपरगृहीतेत्वरिकागमन—बिना विवाही वेश्या दासी आदि से कुवचनालाप करना, कुचेष्टा करना। ब्रह्मचर्य व्रत सर्वोत्कृष्ट और महादुद्धरव्रत है। ब्रह्मचर्य के बिना व्रत करना, तप करना सब व्यर्थ है। ब्रह्मचर्य के बिना अन्य सब कायक्लेश भी वृथा ही हैं। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला समस्त लोगों के बन्दने योग्य होता है। देवगण, इन्द्र, अहमिन्द्रादिक सबही उसकी पूजा करते हैं। जो ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करना चाहते हैं उन्हें नीचे लिखी परमागम की

शिक्षा को अवश्यही अपने चित्त में धारण करना चाहिए। स्त्रियों की कथा तथा विषयोत्पादक विवरण सुनने, कहने तथा पढ़ने का त्याग, स्त्रियों का रागरङ्ग, कौतूहल, या उनकी चेष्टाओं के देखने का त्याग। अपनी दृष्टि सदा नीची और विकार रहित रखना। ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने वाले को मेले, नाटक, सिनेमा, नाच आदि विकार बढ़ाने वाले दृश्य नहीं देखने चाहियें। व्यभिचारी पुरुषों की सङ्गति से बचना चाहिए। मादक वस्तु का त्याग करो, ताम्बोल, पुष्पमाला, अतर फुलेल आदि शील व्रत भङ्ग के कारणों को दूर से टालो। गीत नृत्यादि कामोद्दीपन के कारणों का त्याग करो। रात्रि भोजन का त्याग करो। विकार के कारण लोक विरुद्ध वस्त्राभरण मत पहनो। एकान्त में किसी भी स्त्री से संसर्ग मत करो। रसना इन्द्रिय की लम्पटता छोड़ो। जिह्वा की लम्पटता के साथ साथ हजारों दोष उत्पन्न होजाते हैं। जिह्वा इन्द्रिय के लोलुपी पुरुष के सन्तोष नष्ट होजाता है, समताभाव को वह स्वप्न में भी धारण नहीं कर सकता, उसका लोक व्यवहार नष्ट हो जाता है और ब्रह्मचर्यव्रत भी भङ्ग हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के स्वरूप को जान, इसकी रक्षा करना ही योग्य है। भव्यात्माओं को चाहिए कि कुशील सेवन को घोर अन्याय तथा महान पाप का कारण जान त्याग करें और शील व्रत को पुण्य प्राप्ति तथा कर्मों के क्षय का कारण जान ग्रहण करें।

परिग्रह परिमाण व्रत

यामूर्च्छानामेदं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

मूर्छा ही परिग्रह है, मोह के उदय से भावों का ममत्वरूप परिणमन होना ही मूर्छा है। परिग्रह का यह लक्षण अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दूषण से रहित है।

मूर्च्छा लक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेष सङ्गेभ्यः ॥११२॥

यदि कोई पुरुष सर्वथा नग्न है, अर्थात् सर्व प्रकार के बाह्य परिग्रह से रहित है, परन्तु अन्तरङ्ग में मूर्च्छा मौजूद है तो वह पुरुष परिग्रहवान ही कहलायेगा, परिग्रह रहित नहीं कहला सकता, क्योंकि जहां जहां मूर्च्छा होती है, वहां वहां परिग्रह अवश्य होता है। इस लिये परिग्रह का उपर्युक्त लक्षण अव्याप्ति दूषण से रहित है।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरङ्ग।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छा मिमित्तत्वम् ११३॥

यहां कोई कहे कि यदि मूर्च्छा ही परिग्रह को लक्षण है, तो बाह्य धन धान्यादिक पदार्थों में परिग्रहत्व सिद्ध नहीं होगा। इस का उत्तर यह ही है, कि बाह्य पदार्थ धन धान्य आदिक ही मूर्च्छा की उत्पत्ति के कारण हैं। इस लिए कारण में कार्य के उपचार से बाह्य पदार्थों में, परिग्रहत्व सिद्ध होता है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४॥

यहां फिर कोई प्रश्न करे कि यदि बाह्य पदार्थों को मूर्च्छा का अवश्य कारण मानते हो तो परिग्रह के लक्षण में अतिव्याप्ति दूषण आता है। वीतरागी, निःपरिग्रही महान पुरुषों के कार्माण वर्गणायें ग्रहण करने में मूर्च्छा होगी, जिस को परिग्रह कह सकेंगे ? इस का उत्तर यह है कि मोह के सर्वथा अभाव होजाने के कारण वीतराग निःपरिग्रही महान पुरुषों के कार्माण वर्गणाओं के ग्रहण करने में मूर्च्छा का सर्वथा ही अभाव है। और जहां मूर्च्छा नहीं है, वहां परिग्रह नहीं है। जहां परिग्रह है, वहां मूर्च्छा अवश्य है। इस प्रकार परिग्रह का उपर्युक्त लक्षण अतिव्याप्ति दूषण से भी रहित है।

अति संक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च ।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

परिग्रह दो प्रकार का होता है, एक अंतरंग, दूसरा बहिरंग परिग्रह ।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्द्दशाभ्यन्तराग्रन्थाः ॥११६॥

अन्तरंग परिग्रह के १४ भेद हैं, मिथ्यात्व[1], स्त्रीवेद[2], पुरुष-वेद[3], नपुंसक-वेद[4], हास्य[5], रति[6], अरति[7], शोक[8], भय[9], जुगुप्सा[10], क्रोध[11], मान[12], माया[13], लोभ[14]।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्त्तते हिंसाम् ॥११७॥

बहिरंग के परिग्रह के भी चेतन अचेतन दो भेद हैं । सोना, चान्दी, मकान, जमीन, वस्त्राभूषण, आदिक पदार्थ अचेतन परिग्रह कहलाते हैं । और पुत्र, स्त्री, दासी, दास, घोड़ा, हाथी, आदि पदार्थ चेतन परिग्रह हैं । कोई भी परिग्रह किसी समय हिंसा से खाली नहीं होता, अर्थात् परिग्रह सदैव ही हिंसारूप है ।

उभय परिग्रहवर्ज्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविध परिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥११८॥

जैन सिद्धांतानुसार अन्तरंग, बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग अहिंसा है, और दोनों प्रकार के परिग्रह का अंगीकार करना हिंसा है ।

हिंसा पर्य्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु ।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम् ॥११९॥

ऊपर कहे हुए अन्तरङ्ग के परिग्रह के १४ भेद तो सर्व ही हिंसा की पर्याय हैं, क्योंकि वे विभाव परिणाम हैं । इसलिए अन्तरंग परिग्रह तो आपही हिंसा रूप है । बहिरंग परिग्रह भी ममत्व भाव के बिना अंगीकार नहीं किया जाता, इसलिए उस में भी हिंसा है । ममत्व परिणामों के

कारण ही तो परिग्रह होता है, अन्यथा नहीं। केवल भगवान के समव· सरण आदि विभूति होती है, परन्तु ममत्व के अभाव के कारण, वह परिग्रह संज्ञा नहीं पाती।

एवं न विशेषः स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्छा विशेषण ॥१२०॥

यहां कोई प्रश्न करे कि यदि बहिरंग में ममत्व परिणाम का ही नाम परिग्रह है, तो चूहे के शत्रु बिलाव, और हरिण के बच्चे आदिक जीवों में खास कोई फ़र्क़(विशेषता)न होगी ? ऐसा नहीं है, क्योंकि ममत्व परिणामों के फर्क के कारण इन जीवों में विशेषता अर्थात फर्क है समानता नहीं है।

हरित तृणाङ्कुरचारिणिमन्दा मृगशावके भवति मूर्छा।
उन्दर निकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

हरी दूब के चरने वाले हरिण के बच्चे में तो मूर्छा मन्द होती है, क्योंकि प्रथम ही तो हरिण हरी दूब को ज्यादह लोलुपता के साथ तलाश ही नहीं करता, दूसरे यदि उसको दूब मिल भी जाती है तो खाते समय उसके बहुत सरागता नहीं होती। जरासी भी आहट आदि कारण पाने पर तुरन्त ही छोड़ कर भाग जाता है। इस प्रकार उसके ममत्व परिणाम थोड़े हैं। चूहों के समूह को विध्वंश करने वाले बिलाव में वही मूर्छा तीव्र रूप होती है, प्रथम ही तो वह अपने शिकार को बड़ी ही लोलुपता से तलाश करता है, फिर शिकार के मिल जाने पर उसका बड़ी सरागता पूर्वक घात करता है, और संहार करते समय यदि उसके सिर पर लाठियें भी पड़ती हैं, तो भी वह उस शिकार को नहीं छोड़ता है। इस प्रकार बिलाव के ममत्व परिणाम तीव्र होते हैं।

यह दो उदाहरण मन्द मूर्छा और तीव्र मूर्छा के दिए गए है। ठीक इसी प्रकार बहु आरम्भी, बहुपरिग्रही, और, तुच्छ आरम्भी, तुच्छ परिग्रही

के परिणामों का भी फ़र्क जान लेना चाहिये ।

निर्बाधं संसिद्ध्येत्कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्य खण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ॥१२२॥
माधुर्य्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्य्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्य्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

यह बात भले प्रकार निश्चित है कि कारण की विशेषता से कार्य भी विशेषरूप होता है । थोड़े मिठास वाले दूध में मिठास की रुचि थोड़ी ही कही जाती है, और वही रुचि बहुत मिठास वाली खांड में अधिकक ही जाती है । जैसे दूध में मिठास थोड़ा होता है, और खाण्ड में ज्यादह मिठास होता है, तो मिष्टरस का लोलुपी पुरुष थोड़ी मिठास के कारण दूध से कम प्रीति करता है, और ज्यादह मिठास के कारण खांड़ से ज्यादह प्रीति करता है । इसी प्रकार बाह्य कारणों के अनुसार ही अन्तरंग परिणाम हुआ करते हैं ।

यदि आरम्भ परिग्रह बहुत होता है, तो ममत्व भी बहुत होता है, और यदि आरम्भ परिग्रह थोड़ा होता है तो ममत्व भी थोड़ा होता है, किसी पुरुष के वर्तमान समय में परिग्रह थोड़ा होते हुए भी, अभिलाषारूप ममत्वपरिणाम ज्यादह होते हैं, सो वह आगामी काल में बाह्य परिग्रह होने का सङ्कल्प करता है और यह ममत्व भाव है । यदि कोई पुरुष बाह्य परिग्रह को तो अंगीकार करता जावे और कहे कि मेरे अन्तरंग में ममत्वभाव नहीं है, तो यह ग़लत है, क्योंकि बिना ममत्व के परिग्रह का ग्रहण सर्वथा नहीं हो सकता । इस वास्ते ममत्व परिणामों के नाश के लिए बाह्य परिग्रहण का त्याग भी जरूरी है ।

तत्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम् ।
सम्यक्दर्शन चौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥१२४॥
प्रविहायचद्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः ।

नियतं ते हि कषायाः देश चरित्रं निरुन्धन्ति ॥१२५॥
निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् ।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्द्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥

कषाय चार हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ। इन चारों में से हर एक के चार चार भेद होते हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्यख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय, सञ्ज्वलन। इस प्रकार इन चारों कषायों के १६ भेद होते हैं।

यह पहले बता चुके हैं कि तत्वार्थ के श्रद्धान न होने का नाम ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के अभाव होने पर और सम्यक् दर्शन के प्रकट होने पर कषायों की पहली चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, और अनन्तानुबन्धी लोभ तो विदा ही हो जाते हैं, क्योंकि यह सम्यक् दर्शन के चोर हैं। इनके होते हुए सम्यकत्व की प्राप्ति नहीं होती। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनन्तानुबन्धी की चौकड़ी के क्षय हुए बिना या उपशम हुवे बिना सम्यक् दर्शन नहीं हो सकता। इनको अनन्तानुबन्धी भी इसी कारण कहा जाता है कि इनके होने से मिथ्यात्व होता है और मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। इनकी वासना भी अनन्त काल तक रहती है। अप्रत्यख्यानावरणी—अ+ईषत, थोड़ा+प्रत्याख्यान, त्याग+आवरण=परदा, रुकावट डालने वाला। अप्रत्याख्यानावरणी कषायों की मौजूदगी में श्रावक का एकोदेश चारित्र नहीं हो सकता। कषायों की यह दूसरी चौकड़ी निश्चयपूर्वक एकोदेश चारित्र को रोकती है, और इसी लिए इनको अप्रत्याख्यानावरणी कहते हैं। इनकी वासना छह महीने तक रहती है।

प्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ सकलसंयम अर्थात् मुनि चारित्र को रोकते हैं। कषायों की इस चौकड़ी के नाश से ही मुनिपद प्राप्त होता है इस चौकड़ी का वासना काल एकपक्ष का है।

संज्वलनकषाय—संयम के साथ दैदीप्यमान रहती है। संज्वलन कषाय की चौकड़ी और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इनके नाश से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। इस वास्ते जहां तक बन सके इन सब का त्याग ही करना चाहिये। जो न बने तो श्रावक धर्म में मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी, अप्रत्याख्यानावरणी कषाय की चौकड़ी का त्याग तो सर्वथा ही करना चाहिये। और बाकी जो और अन्तरंग के परिग्रह है, उनका भी यथाशक्ति त्याग करना चाहिये।

बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्ज्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७॥
योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥१२८॥

बाह्य परिग्रह के त्याग बिना, संयम, चारित्र का पालन नहीं हो सकता। इसी कारण चेतन, अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह का सर्वथा त्याग करना ही जीव के लिये कल्याणकारी है, परन्तु जो पुरुष सर्वथा त्याग नहीं कर सके, उन्हें जहां तक भी हो सके परिग्रह का त्याग ही करना चाहिये।

तत्व त्यागरूप ही है। जितना जितना त्याग होता जाता है, उतना उतना ही आत्मस्वरूप प्रगट होता जाता है। इस प्रकार होते होते जिस समय सर्वथा त्याग हो जाता है, तब ही आत्मा मुक्त हो जाता है। इसी कारण मुक्ति का नाम निवृत्ति भी है।

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पञ्च ॥१८७॥

परिग्रह परिमाण अणुव्रत के ५ अतिचार हैं। १--क्षेत्र वास्तु, २--हिरण्य, सुवर्ण; ३-धन धान्य; ४-दासी दास, ५-कुप्य भाण्ड। इन पांचोंके परिमाण को

उल्लंघन करना परिग्रह परिमाण अणु व्रत के पांच अतिचार हैं। वास्तु—रहने के घर मकान आदि (सकनी जायदाद), क्षेत्र—धान्य आदि उपजने के स्थान (ज़रई ज़मीन); हिरण्य—रुपये, चांदी वग़ैरह, सुवर्ण—सोना, सोने के गहने, सिक्के आदि, धन—गौ, बैल, भैंस आदि, धान्य—गेहूं, चने, चावल आदि; दासी दास-टहल करने वाले चाकर, बाँदी आदि; कुप्य, भाण्ड-वस्त्र, वर्तन, चन्दन आदि इस प्रकार ये ५ जोड़ होते हैं, तब जिसने उपर्युक्त १० प्रकार की परिग्रह का नियम किया है, वह ५ जोड़े में हर एक में एक को घटाकर दूसरे को बढ़ा ले, सो अतिचार है। जैसे ज़मीन ज़रई (क्षेत्र) १० बीघा थी और मकान दो थे। मकान ३ कर लिये और ज़मीन ९ बीघा कर ली—यह अतिचार है।

रात्रि भोजन त्याग

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसा विरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

जो जीव रात्रि में भोजन करते हैं, वे अवश्य ही हिंसा के भागी होते हैं। इस वास्ते जो हिंसा के त्यागी होते हैं, उन्हें रात्रि में भोजन करने का अवश्य ही त्याग करना चाहिये।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति ॥१३०॥

जिस जीव के तीव्र रागभाव होते हैं, वह त्याग नहीं कर सकता। जिनको भोजन से अधिक रागभाव हुआ करता है, वह ही रात दिन भोजन किया करते हैं, और जहां रागभाव होता है, वहां हिंसा अवश्य ही होती है।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥
नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।

अन्नकवलस्यभुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥
अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधित प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥
किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनो वचनकायैः ।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥१३४॥
इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः ।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

यहां कोई प्रश्न करे, कि यदि सदाकाल भोजन करने में हिंसा होती है, तो दिन में भोजन मत करो। रात्रि में भोजन कर लो। केवल रात्रि में आहार करने से सदाकाल हिंसा नहीं होगी। इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उदरपूर्त्ति की अपेक्षा तो सब ही भोजन बराबर है, परन्तु अन्न के भोजन में जैसे साधारण भाव होते हैं, वैसे मांस भोजन में नहीं होते; अन्न का भोजन तो सर्व जीवों को ही सहज मिलता है। मांस भोजन में रागभाव अधिक होते हैं, मांस भोजन कामादि की अपेक्षा अथवा शरीर मोह की अपेक्षा विशेष रागपूर्वक किया जाता है। इसी प्रकार दिन के भोजन में तो साधारण रागभाव भाव होता है और रात्रि में भोजन शरीरादि की अपेक्षा अथवा कामादि की अपेक्षा रागभाव अधिक ही होता है। इसी वास्ते रात्रि का भोजन त्यागने योग्य है। रात्रि भोजन करने में द्रव्य हिंसा भी बहुत होती है। रात्रि में यदि चिराग़ न जलाया जावे, तो अन्धेरे में भोजन करते समय बड़े बड़े जीवों की भी ख़बर नहीं रहती, और यदि चिराग़ जला लिया जावे, तो रोशनी से खिंचकर नाना प्रकार के अनेक छोटे बड़े कीट, पतङ्ग आदिक जीव एकत्र हो जाते हैं, भोजन में गिर पड़ते है। जिन जीवों का इस प्रकार घात होता है, उनकी हिंसा अवश्य ही होती है। इस लिये रात्रि भोजन करने वाला अवश्य ही हिंसा का भागी होती

है। रात्रि भोजन का त्याग किये बिना अहिंसा व्रत की सिद्धि नहीं होती। इसी कारण किसी किसी आचार्य ने तो इसको अहिंसाणुव्रत में ही गर्भित कर दिया है और किसी किसी ने इसको जुदा ही छठा अणु व्रत कह दिया है।

श्रावक की ११ प्रतिमाएं हैं, उनमें से छठी प्रतिमा में प्रवेश होने पर नियमरूप से सर्वथा रात्रि को भोजन करने कराने का त्याग होता है। इसके पहले पांच प्रतिमाओं तक जल पानादिक का त्याग जितना बने उतना करे।

सप्त शील व्रत

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

पांच अणु व्रतों का वर्णन करने के बाद, अब सप्त शील व्रतों का वर्णन करते हैं। जैसे किसी नगर की रक्षा के लिये कोट(फ़सील) बनाया जाता है, उसी प्रकार तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत, सप्त शील व्रतों का पालन करना भी, पंच अणु व्रतों के पालन के निमित्त अवश्य बतलाया गया है।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥

दिग्व्रत—इस व्रत में उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, अधो और ऊर्ध्व, इन दसों दिशाओं में गमन करने का परिमाण जीवन भर के लिये किया जाता है। यह परिमाण किसी प्रसिद्ध नगर, पर्वत, दरिया आदिक स्थानोंकी हद को लिये होता है। जैसे किसी पुरुष ने परिमाण किया कि पूर्व में वह देहली से आगे यावज्जीव नहीं जावेगा; तो वह दिग्व्रत का पालन करते हुए देहली से आगे पूर्व दिशा में कभी नहीं जावेगा। इसी प्रकार अन्य दिशाओं का भी जानना। पर्वतादि चढ़ने की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा का और कूप, खान, समुद्र आदि में नीचे उतरने की अपेक्षा अधो दिशा का परिमाण कर लेना बतलाया गया है।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।
सकला संयमविरहाद्भवत्यहिंसा व्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

जो पुरुष जितने क्षेत्र का परिमाण करता है, वह उतने ही क्षेत्र के अन्दर अन्दर, थोड़ा बहुत पंच पापरूप असंयम में प्रवृत्तक है, उससे बाहर के क्षेत्र की अपेक्षा तो वह सकल संयमी ही हो जाता है। इस वास्ते दिग्व्रत नाम गुण व्रत का धारण करना आवश्यक है।

ऊर्द्ध्वमधस्तात्तिर्य्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

दिग्व्रत के ५ अतिचार हैं। १—ऊर्ध्वातिक्रम-परिमाण से ज्यादह ऊँचाई के वृक्ष, पर्वतादिकों पर चढ़ना। २—अधोतिक्रम-परिमाण से अधिक निचाई के कुंयें, बावड़ी, समुद्र में उतरना। ३—तिर्यक् अतिक्रम-बिल, पर्वतादि की गुफाओं, सुरङ्गों आदि में टेढा जाना। ४—क्षेत्र वृद्धि-परिमाण की हुई दिशाओं के क्षेत्र से अधिक क्षेत्र बढ़ा लेना। ५—स्मृत्यन्तराधान-दिशाओं की की हुई मर्यादा को भूल जाना।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥
इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसा विशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विरलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०॥

दिग्व्रत में जितने क्षेत्र की मर्यादा की जाती है, देश व्रत में उस ही क्षेत्र के अन्दर अन्दर काल की मर्यादा को लिये हुए, और भी थोड़े क्षेत्र का परिमाण किया जाता है। जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि मैं देहली सूबे से बाहर कदापि जीवन भर नहीं जाऊँगा, यह दिग्व्रत हुआ। और फिर आगे वह यह और प्रतिज्ञा करता है कि मैं खास देहली शहर से बाहर एक मास तक कहीं नहीं जाऊँगा, या देहली के किसी खास मुहल्ले से बाहर १५

दिन तक नहीं जाऊँगा। यह देश व्रत है। दिग्व्रत और देश व्रत में यह ही अन्तर है कि दिग्व्रत तो सदाकाल के लिये अर्थात यावज्जीव होता है और देश व्रत में काल की मर्यादापूर्वक वर्ष, छह महीने, पन्द्रह दिन, १ दिन, घण्टे, घड़ी, मिनट आदि के लिये त्याग किया जाता है, और देश व्रत में दिग्व्रत की अपेक्षा क्षेत्र भी थोड़ा होता है। देश व्रत में जितने काल के लिये जितने थोड़े क्षेत्र का परिमाण किया जाता है। उस काल के लिये बाकी बाहर के क्षेत्र की अपेक्षा तो सकल संयमी ही हो गया। देश व्रत, दिग्व्रत के भीतर ही किया जाता है। इस प्रकार देश व्रत के धारण करने से विशेष हिंसा का त्याग होता है।

प्रेष्यस्य सम्प्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९॥

देश व्रत के ५ अतिचार हैं। १—प्रेष्य प्रयोग-परिमाण किये हुए क्षेत्र से बाहर आप न जाकर दूसरे मनुष्य सेवकादिकों को भेजना। २—आनयन-मर्यादा से बाहर के क्षेत्र की वस्तुएं मंगाना। ३—शब्दानुपात-मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में तिष्टे हुए पुरुष को शब्द सुना कर अपना अभिप्राय समझा देना। ४—रूपानुपात-परिमाण किये क्षेत्र से बाहर तिष्टते हुए पुरुष को अपना रूप दिखाकर अथवा इशारों से समझाकर काम कराना। ५—पुद्गल क्षेप-मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में कङ्कर पत्थर आदि फेंक कर इशारा करना।

अनर्थ दंड व्रत

व्यर्थ ही निष्प्रयोजन पाप करने को अनर्थ—दंड कहते हैं, और व्यर्थ पाप करने के त्याग को अनर्थ—दंड व्रत कहते हैं। इस स्थूलरूप से पांच भेद हैं, जो आगे संक्षेप से वर्णन किये जाते हैं।

पापर्द्धिजयपराजयसङ्करपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

अपध्यान अनर्थ दंड व्रत—शिकार-जय, पराजय, पर स्त्रीगमन, पर द्रव्यहरण आदिक का कभी किसी समय भी चिन्तवन नहीं करना चाहिये। बिना प्रयोजन नाना प्रकार के पाप सम्बन्धी विकल्प करने से अपने तो किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती पाप बन्ध अवश्य तीव्र हो जाता है। इस प्रकार के पापरूप विकल्पों के त्यागने का नाम ही अपध्यान अनर्थ दंड व्रत है ।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

पापोपदेश अनर्थ दंड व्रत—बिना प्रयोजन किसी पुरुष को आजीविका के कारण, विद्या, वाणिज्य, लेखन कला, खेती, नौकरी और शिल्प आदिक नाना प्रकार के काम तथा हुनर करने का उपदेश देना, पापोपदेश अनर्थ दंड कहलाता है। ऐसे उपदेश से अपने को तो कोई लाभ होता नहीं, पाप का बन्ध अवश्य हो जाता है। पापोपदेश अनर्थ दंड के त्याग का ही नाम पापोपदेश अनर्थ दंड व्रत है ।

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

प्रमादचर्या अनर्थ दंड व्रत—बिना प्रयोजन ज़मीन का खोदना, वृक्षादिक को उखेड़ना, दूब आदिक हरी घास को रौंदना, या खोदना, पानी सींचना, फल फूल पत्रादिक का तोड़ना इत्यादिक पाप क्रियाओं का करना प्रमाद-चर्या अनर्थ दंड है ।

गृहस्थी त्रस जीवों की तो रक्षा नियम पूर्वक करता ही है, बिना प्रयोजन स्वार्थ के वश में हो कर स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। विचार पूर्वक ही कार्य करना चाहिये। ऊपर कही हुई पाप क्रियाओं का त्याग करना

ही प्रमादचर्या अनर्थ दंड व्रत कहलाता है।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

हिंसा प्रदान अनर्थ दंड व्रत—खड्ग, बर्छी, छुरी, तलवार, बन्दूक, पिस्तौल, ज़हर, अग्नि, तीर, भाला, करौंत, कस्सी कुदाल आदि अनेक हिंसा के उपकारणों को दूसरे पुरुषों को मांगा देने का त्याग करना, हिंसा प्रदान अनर्थ दंड वृत है। हिंसा के जिन जिन उपकरणों बिना अपना काम न चले, उनको अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये रख लेवे, परन्तु बिना प्रयोजन दूसरों को न देवे, क्योंकि ऐसा करने से हिंसा का भागी व्यर्थ ही बनना पड़ता है।

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

दुःश्रुति अनर्थ दंड वृत—रागद्वेष, मोह आदिक विभाव भावों के बढ़ाने वाली, अज्ञान भाव से भरी हुई दुष्ट कथाओं को सुनना, बनाना, एकत्रित करना, या सीखना आदि का त्याग करने का नाम दुःश्रुति अनर्थ दंड वृत है। दुष्ट शृंगारादि, तथा राजादि की वार्तारूप, राग द्वेष बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने में, बनाने में कोई धर्म नहीं होता, व्यर्थ ही उपयोग लगाना पड़ता है। पापरूप कथन होने के कारण उपयोग भी पापरूप हो जाता है। पाप का बन्ध होता है, जिसका फल भोगना पड़ता है। इसी कारण खोटी पापरूप कथाओं का सुनना, संग्रह करना, सीखना इत्यादिक सब ही बातें त्यागने योग्य ही हैं।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६॥

आगे आचार्य बताते हैं कि जुआ भी एक प्रकार का अनर्थ दण्ड है, इसका भी त्याग करना चाहिये, जुआ समस्त अनर्थों का सर्दार है।

सन्तोष का नाश करने वाला, मायाचारी का घर और चोरी तथा झूठ का अड्डा है।

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

सारांश यह है कि जुआ खेलने में पाप का बन्ध अधिक होता है। इस लिये विवेकवान पुरुषों को इसे दूर से ही त्याग देना चाहिये। जो पुरुष इस प्रकार और भी अनर्थ दंडों को जान कर उनका त्याग कर देते हैं, वह निरन्तर अहिंसा वृत का निर्दोष पालन करते हैं।

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्य्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९०॥

अनर्थ दंड वृत के ५ अतिचार हैं। कंदर्प—राग भाव की अधिकता से हास्य मिश्रित भंड बचन बोलना। कौत्कुच्य—राग भाव की तीवृता से हास्य अशिष्ट भंड बचन बोलना और साथ में ही काय से भी निन्दनीय क्रिया करना। मौखर्य-धीठता से व्यर्थ ही प्रलाप करना, बकवास करना। असमीक्ष्याधिकरण प्रयोजन के बिना विचारे अधिकता से प्रवर्तन करना (कार्य करना)।

उपभोगपरिभोगनर्थक्य—भोगोपभोग के जितने पदार्थों से अपना काम चल सके उनसे ज्यादह का संग्रह करना। इन उपर्युक्त तीन शील व्रतों को गुण व्रत कहते हैं और इस लिये कहते हैं कि यह अणुव्रतों का मूल्य गुणन रूप बढ़ा देते हैं। दिग्व्रत में मर्यादा करने से मर्यादा से बाहर के क्षेत्र का सब पाप टला। देश व्रत में क्षेत्र घटाया तब और भी पाप टला। नियमित क्षेत्रों में भी बे मतलब पाप न किया तब और भी पाप टला। अब आगे चार शिक्षा व्रतों का वर्णन करते हैं।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

सामायिक—समस्त ही इष्ट अनिष्ट पदार्थों में राग द्वेष भावों का त्याग कर, समताभाव को ग्रहण कर, बारंबार शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति का मूल कारण, सामायिक करना चाहिये। समय=सम, एक रूप हो कर+ अयः, स्वरूप में गमन करना; अर्थात् एक रूप हो कर निज स्वरूप में गमन करने का नाम समय है। और जिसका प्रयोजन "समय" है, वह सामायिक है। इस प्रकार साम्यभाव का नाम ही सामायिक है। अपने को सुखदायी इष्ट वस्तु में राग न करने, और अपने को दुःखदायी अनिष्ट वस्तु में द्वेष न करने को साम्यभाव कहते हैं, इस साम्यभाव के होने पर निज शुद्ध चेतन स्वरूप में मग्न होना ही परम कर्तव्य है। यदि यह न बन सके तो शुभोपयोग रूप भक्ति या तत्व विचार में प्रवृत्ति करना योग्य है, अथवा सामायिक सम्बन्धी दो नमस्कार, बारा आवर्त्त, चार शिरोनति, आदिक क्रिया काण्ड के करने में तत्पर होना चाहिये। नमस्कार—अङ्गों को धरती से लगा कर मस्तक के नवाने को नमस्कार कहते हैं। दोनों हाथों को जोड़ कर अपने बायें से दाहनी ओर घुमाने को आवर्त्त कहते हैं। आवर्त्त में जोड़े हुवे हाथों पर अपने मस्तक के झुकाने को शिरोनति कहते हैं।

सामयिक की विधि—सामायिक करते समय प्रथम ही तो ईर्या पथ की शुद्धि करे, फिर पूर्व में या उत्तर में मुंह करके हाथ लटका कर खड़ा होवे नौ बार णमोकार मंत्र अपने मन में पढ़े और फिर मस्तक भूमि में लगा कर नमस्कार करे और मन में यह प्रतिज्ञा करे, कि जब तक सामायिक में हूं, जो कुछ मेरे पास है उसके सिवाय अन्य सर्व परिग्रह का त्याग करता हूं। फिर कार्योत्सर्ग खड़ा हो कर नौ बार या तीन बार णमोकार मन्त्र पढ़े, तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे। फिर अपने दाहने की ओर खड़ा खड़ा हाथ लटकाये हुवे मुड़ जावे। इस ओर भी तीन बार या नव बार णमोकार मंत्र पढ़ तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे। इसी प्रकार शेष अन्य दो दिशाओं

में भी करे। बाद में जिधर पहले मुंह करके खड़ा हुवा था, उधर ही मुंह करके बैठ जावे। पद्मासन या पल्यंकासन जमालेवे या कायोत्सर्ग ही रहे। फिर काल का प्रमाण कर साम्यभाव संयुक्त शुभोपयोग रूप या शुद्धोपयोग रूप रहे, अर्थात् सामायिक पाठ पढ़े, जाप करे, या ध्यान का अभ्यास करे। इस प्रकार काल पूर्ण हो जाने पर जब पाठ, जाप ध्यान समाप्त हो जावे तो कायोत्सर्ग खड़ा हो जावे, या खड़ा होवे तो वैसे ही नव बार णमोकार मंत्र पढ़े और अन्तिम दण्डवत कर सामायिक को पूर्ण करे। सामायिक के साधन से सहज स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है।

रजनी दिनयोरन्ते तदवश्यभावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

गृहस्थ के लिए एक दिन में कम से कम दो बार दोनों सन्ध्याओं के समय, चित्त की एकाग्रता पूर्वक सामायिक करना ज़रूरी है। इन दोनों सन्ध्याओं के सिवाय यदि किसी और समय में भी सामायिक की जावे तो कोई निषेध नहीं है। सामायिक केलिए योग्य क्षेत्र, योग्य काल, योग्य आसन, योग्य विनय और इनके अतिरिक्त, मन, बचन, काय की शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है। यह मनुष्य के भाव निर्मल और निश्चल करने में सहकारी होते हैं।

सामायिकं श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०॥

सामायिक करते समय समस्त पाप क्रियाओं का त्याग होता है। सामायिक के समय श्रावक के यद्यपि प्रत्याख्यानावरण चारित्र मोहनी का उदय होता है, परन्तु समस्त पाप क्रियाओं का सर्वथा त्याग होने के कारण महा व्रती सरीखा ही है।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥

रोज़ाना सामायिक की स्थिरता के लिए शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास भी अवश्य ही करना चाहिए।

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव ।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥१९१॥

सामायिक शिक्षा व्रत के ५ अतिचार हैं । मनोदुःप्रणिधान—सामायिक करते समय मन को अन्यथा चलायमान करना। वाग्दुःप्रणिधान—सामायिक करते समय बचन का अन्यथा चलायमान करना। कायदुःप्रणिधान-सामायिक करते समय काय का अन्यथा चलायमान करना। अनादर—उत्साह रहित होकर अनादर से सामायिक करना । स्मृत्यनुपस्थान—सामायिक में एकाग्रता बिना, चित्त की व्याग्रता से पाठ्य क्रियाओं को भूल जाना ।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं ग्रहणीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥
श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥
धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसाध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥
प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥
उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

प्रोषध अष्टमी चतुर्दशी को दिन को कहते हैं। इन दिनों में इच्छा पूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना और पाप क्रियाओं से छूट कर धर्म

सेवन करने का नाम प्रोषधोपवास है। जिस दिन उपवास करना हो, उससे पहले दिन मध्यान्ह के समय (दोपहर को) सर्व प्रकार के आरम्भ को छोड़, शरीरादिक से ममत्व भाव का त्याग कर उपवास धारण करे। इसके बाद चित्त की शान्ति के निमित्त किसी निर्जन वास्तिका में जावे। समस्त पापरूप योगों का त्याग करे। पांचों इन्द्रियों के सर्व विषयों से विरक्त होकर, मन गुप्ति, बचन गुप्ति तथा काय गुप्ति सहित स्थिर होवे, अर्थात् काय को निश्चल रक्खे। यदि काय से कुछ चेष्टा करनी हो तो परिमाण पूर्वक क्षेत्र के ही अन्दर अन्दर धर्म रूप करे। मौन धारण करे। यदि कुछ कहे तो थोड़े और धर्म रूप बचन कहे और मन में किसी प्रकार का विकल्प न करे, यदि करे तो धर्म रूप विकल्प करे। इस प्रकार उपवास करने वाला उपवास के पहले दिन को धर्मध्यानपूर्वक व्यतीत करे, फिर पवित्र प्रासुक संथारे पर पठन पाठन द्वारा निद्रा को जीत रात्रि को पूर्ण करे, प्रभात होते ही प्रातः काल सम्बन्धी सामायिकादि क्रियाओं को करके, प्रासुक द्रव्य से शास्त्रोक्त विधि पूर्वक भगवत् की पूजा करे। जिस प्रकार उपवास ग्रहण करने बाद उपवास के पहले दिन, रात्रि को पूर्ण किया, ठीक उसी प्रकार उपवास के दिन को रात्रि को, और तीसरे दिन दोपहर तक के समय को धर्म ध्यान आदिक शुभ क्रियाओं में ही यत्नाचार पूर्वक व्यतीत करे।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसा व्रतं भवति ॥१५७॥

जो जीव इस प्रकार समस्त पाप क्रियाओं से रहित होकर उपवास के १६ पहर को व्यतीत करता है वह अवश्य ही उतने समय तक निश्चय पूर्वक संपूर्ण अहिंसा व्रत का पालन करता है।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्ममैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्यमूर्छस्य ॥ युग्मम् ॥१५९॥

देश व्रती श्रावकों के भोगोपभोग के निमित्त से स्थावर जीवों की हिंसा हुआ करती है, परन्तु उपवास में भोगोपभोग के त्याग से हिंसा का लेश भी नहीं होता। उपवास में अहिंसा व्रत का पालन न होने के अलावा, बाक़ी व्रतों का भी पालन होता है। उपवासधारी पुरुष के वचन गुप्ति होने से झूठ बोलना नहीं है। समस्त अदत्तादान के त्याग होने से चोरी नहीं है, मैथुन का सर्वथा त्याग होने से अब्रह्म नहीं है और शरीर में ममत्व भाव के अभाव के कारण परिग्रह भी नहीं है।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०॥

इस प्रकार प्रोषधोपवासव्रत के धारण करने वाले श्रावक को उपचार से महाव्रती कह सक्ते हैं, परन्तु प्रत्याख्यानावरण चरित्र मोहनी के उदय रूप होने के कारण, संयम के स्थान प्रमत्त गुण स्थान को वह नहीं पा सक्ता। इस लिये पूर्णतया महाव्रती न कह कर "महाव्रती सरीखा" कह सकते हैं। इस प्रकार का एक उपवास भी बहुत कार्य कारी होता है, और जो उपवास केवल मान बड़ाई के निमित्त किये जाते हैं, वह चाहे जितने किये जावें, उन से किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। यह १६ प्रहर का उत्कृष्ट प्रोषधोपवास है। मध्यम १२ प्रहर का है जैसे सप्तमी की संध्या से नौमी के प्रातःकाल तक। जघन्य ८ प्रहर का है, खानपान तो १२ प्रहर ही छोड़े, परन्तु आरम्भ ८ प्रहर छोड़ सकता है। दूसरी विधि यह है कि १६ प्रहर धर्म ध्यान करे, आरंभ छोड़े। मध्यम में जल आवश्यकतानुसार पी सक्ता है। जघन्य में बीच के दिन एकासन भी कर सकता है।

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सार्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

प्रोषधोपवासव्रत के ५ अतिचार हैं। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग—नेत्रों से देखे विना व कोमल पिच्छिका से शोधन किये बिना भूमि पर मल मूत्रादि डालना। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान—बिना देखें, बिना झाड़े, बिना शोधी हुई पूजन की सामग्री तथा उपकरणों को घसीट कर उठाना। अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित संस्तरोपक्रमण—बिना देखी, बिना झाड़ी, बिनाशोधी भूमि पर बैठने तथा सोने का संथारा आदि करना। स्मृत्यनुपसार-प्रोषधोपवासके दिन करी जाने वाली योग्य तथा आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना। अनादर—उपवास में भूख प्यास की बाधा हो जाने के कारण आवश्यकीय क्रियाओं में उत्साह रहित होकर प्रवर्तना। इस प्रकार जो जीव कषाय, विषय तथा आहार का त्याग कर, इस लोक परलोक सम्बन्धी भोगों की अभिलाषा छोड़, एक भी उपवास अतिचार रहित करते हैं, वह बहुत से कर्मों की निर्जरा कर डालते हैं। और जो विषय कषायों के छोड़े बिना केवल आहार मात्र ही को छोड़ते हैं, और गृहस्थ सम्बन्धी कारोबार को भी करते रहते है, वे देह को वृथा ही कष्ट देते हैं। कर्मों की निर्जरा लेशमात्र भी नहीं करते हैं।

भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रतभोग—जो वस्तु एक बार भोगी जावे, उसे भोग कहते हैं जैसे भोजन, पुष्प आदिक। भोगोपभोग—जो वस्तु बारंबार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र, जेवर, सवारी आदि।

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१॥

देश व्रती श्रावक के भोग और उपभोगों के निमित्त से ही थोड़ी बहुत हिंसा हुवा करती है। इस लिये उससे बचने के वास्ते वस्तु के स्वरूप को जानना चाहिये, कि किस वस्तु के सेवन करने में पाप ज्यादह होता है,

और किस में कम। बस्तु के स्वरूप को जानने के बाद अपनी सामर्थ्य तथा अपने परिणामों और शरीर की शक्ति को भली भान्ति जांच कर उसके अनुसार भोगोपभोग का त्याग करना चाहिये।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

साधारण बनस्पति तथा अन्य पदार्थ जो अनन्त काय होते हैं अभक्ष्य हैं। उन का त्याग करना जरूरी है। यहां प्रसंग वश यह बताना जरूरी मालूम होता है कि साधारण तथा अनन्त काय किसे कहते हैं। यह पहले बता चुके हैं कि स्थावर जीव पांच प्रकार के होते हैं—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और बनस्पति। इन में से बनस्पति के दो भेद हैं, साधारण और प्रत्येक। साधारण उसे कहते हैं जिसके एक शरीर में अनन्त जीव स्वामी पाये जावें। जैसे कंद। कंद कभी भी प्रत्येक अवस्था को प्राप्त ही नहीं होते, साधारण ही रहते हैं। कन्द का शरीर ही जीवराशि का पिण्ड होता है, उस में अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं, और उस कंद को बढ़ाते रहते हैं। प्रत्येक बनस्पति उसे कहते हैं जिस के एक शरीर में एक ही जीव स्वामी पाया जावे। प्रत्येक बनस्पति के भी दो भेद होते हैं। सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। निगोद सहित प्रत्येक बनस्पति को सप्रतिष्ठित कहते हैं। दूब, बेल, छोटे वृक्ष आदि, या ऐसी बनस्पतियें जिनमें लंबी लंबी रेखायें, गांठें या सन्धियें नजर न आवें, अथवा जो काटने के बाद फिर उग सकें, जिनके तन्तु न हों, अथवा जिनमें तोड़ने पर तन्तु न लगे रहें सप्रतिष्ठित कहलाती हैं। निगोद रहित प्रत्येक बनस्पति को अप्रतिष्ठित कहते हैं। जिनमें रेखा, गांठें, संधियें साफ नजर आवें, जोकाटने के बाद फिर न उग सकें, जिनमें तन्तु होवें, और जिनमें तोड़ने पर तन्तु लगे रहें, उन्हें अप्रतिष्ठित कहते हैं। उपर्युक्त सप्रतिष्ठित बनस्पति को साधारण भी कहते हैं इस साधारण बनस्पति में अनन्त

जीव पाये जाते हैं। इस वास्ते इसको अनन्तकाय कहते हैं। उदाहरण— अदरक आदि साधारण बनस्पतियों में लोक के जितने प्रदेश हैं, उन से असंख्यात गुणे जीव तो प्रत्येक शरीर में पाये जाते हैं, जिन्हें सकन्ध कहते हैं, जैसे अपना शरीर। इन स्कन्धों में असंख्यात लोक प्रमाण अन्डर पाये जाते हैं, जैसे शरीर में हाथ पांव आदि। एक अन्डर में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी पाये जाते हैं, जैसे हाथ पांव में उंगली आदि। एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण आवास पाये जाते हैं, जैसे अंगुली में तीन पोरी। एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण निगोद पाये जाते हैं, जैसे अंगुली के एक भाग में अनेक रेखायें पायी जाती हैं। एक निगोद शरीर में सिद्ध समूह से अनन्त गुणे जीव पाये जाते हैं। जैसे एक रेखा में अनेक प्रदेश। इस प्रकार एक सप्रतिष्ठित बनस्पति के टुकड़े में अनन्त जीवों का अस्तित्व पाया जाता है। एक हरित काय में अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर असंख्यात या संख्यात पाये जाते हैं, उन में जितने शरीर होते हैं उतने ही जीव पाये जाते हैं। इस लिये जिह्वा इन्द्रिय के जरा से स्वाद के लिये अनन्त जीवों का घात करना सर्व प्रकार अनुचित है।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्यापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

दही में से निकाले हुए मक्खन को यदि तत्काल ही अग्नि पर ता कर घी न बना लिया जावे, तो वह दो ही घड़ी बाद अनन्त जीवरूप हो जाता है। व्रती गृहस्थ को इसका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। इसके सिवाय आचार ग्रन्थों में जिन जिन वस्तुओं को अभक्ष्य बताया गया है, उनका भी अवश्य त्याग करना चाहिये—जैसे चर्म स्पर्शित घी, तेल, जल, हींग, दूध, दही, मीठा; अनजानफल, अनछाना पानी, बीझा हुआ अन्न, अचार, मुरब्बा, बैंगन, बहुबीजा आदि वस्तुएं जिनका शास्त्र में निषेध किया गया है। कच्चा

दूध अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) के बाद पीने योग्य नहीं रहता, दही २४ घण्टे बाद अयोग्य हो जाता है। योग्य मर्यादा से बाहर का आटा, लाड्डू, मीठा आदि भी अभक्ष्य हो जाते हैं। छना हुआ जल पीना योग्य है, छलना गाढ़े कपड़े का हो, छलने को दोहरा करके जल छानना चाहिये। छने हुए जल की मर्यादा अन्तर्मुहूर्त की है, जो जल लवंग आदि डालकर प्रासुक कर लिया जाता है, उसकी मर्यादा दो पहर की है। उबले हुए जल की मर्यादा आठ पहर की है।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमवेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

विवेकवान पुरुष जो मोक्षाभिलाषी होते हैं, अयोग्य पदार्थों का तो आजन्म त्याग कर ही देते हैं, परन्तु यथाशक्ति उनको योग्य पदार्थों का भी त्याग करना चाहिये। यदि किसी में योग्य पदार्थों के त्याग करने की शक्ति न हो तो वे उन पदार्थों को नियमित मर्यादा करके एक दिन, दो दिन के लिये तो अवश्य छोड़ दिया करें। त्याग दो प्रकार का होता है, एक यम रूप और दूसरा नियम रूप। नियम रूप किसी पदार्थ के जीवन पर्यन्त छोड़ देने को यम और वर्ष मास, पक्ष, दिन, घंटे आदि की मर्यादा रूप छोड़ने को नियम कहते हैं। अयोग्य पदार्थों का त्याग तो यम रूप से किया ही जाता है, योग्य पदार्थों के जीवन पर्यन्त त्याग की यदि शक्ति न हो, तो वह नियम रूप वर्ष महीना दिन, घंटे की मर्यादा पूर्वक त्याग किये जा सकते हैं। गृहस्थ को नीचे लिखे १७ प्रसिद्ध दैनिक नियमों को निरन्तर ग्रहण करना चाहिये। १-भोजन कितनी बार ग्रहण करे, २-पीने की चीजें कितनी और कै बार, ३-छहों रसों में से कौनसा छोड़ना कौनसा ग्रहण करना, ४-तेल साबुन उबटना कै बार लगावना, ५-फूल सूंघना कै बार, ६-पान तंबोल खाना कै बार, ७-सांसारिक गाना बजाना कै बार, ८-सांसारिक नृत्य

देखना कै बार, ९-काम सेवन, १०-स्नान कै बार, ११ वस्त्र कितने जोड़े, १२-जेवर कितने, १३-बैठने के आसन कितने, १४-सोने की शय्या कितनी, १५-सवारी कितनी और कै बार, १६—हरी सबजी तथा सचित्त वस्तु कितनी, १७—कुल खाने पीने की वस्तुओं की संख्या। इन में से जिस किसी को न भोगना हो उस को सर्वथा त्याग देवे।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥१६५॥

एक बार भोगोपभोग परिमाण व्रत ग्रहण करने के बाद, अपनी शक्ति अनुसार मर्यादा में भी मर्यादा कर लेनी चाहिये।

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

जो श्रावक इस प्रकार भोगोपभोगों का निरन्तर त्याग करते हैं उन के लोभ कषाय के त्याग से संतोष प्रगट हो जाता है, और त्याग किये हुवे भोगोपभोग सम्बन्धी हिंसा का भी त्याग हो जाता है, और उनके, अहिंसा व्रत में वृद्धि होती है।

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रस्सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्कोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्टशीलस्य ॥१९३॥

भोगोपभोग परिमाण व्रत के ५ अतिचार हैं। सचित्ताहार—सचित्त त्यागी हो कर जीव सहित सचित्त वस्तु का आहार करना। सचित्त मिश्राहार—त्यागी हो कर सचित्त वस्तु से मिली हुई वस्तु का आहार करना। सचित्त सम्बन्धाहार—सचित्त त्यागी हो कर सचित्त वस्तु से छूई हुई वस्तु का आहार करना-जैसे हरे पत्ते पर रखा हुआ दही खाना। दुष्पकाहार—कच्चा पक्का आहार—जो अग्नि से अच्छी तरह पकाने में न आया हो, अथवा ऐसा आहार जो हजम न हो सके। अभिष व कामोत्पादक—कामोद्दीपक, पुष्टि-

कारके आहार करना।

अतिथि संविभाग शिक्षा व्रत

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अतिथि (जिन का आना तिथि के नियम रहित होता है) साधु को भक्ति पूर्वक दान देकर भोजन करना, अपने कुटुम्ब के लिये बनाये भोजन में से उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के पात्रों को भक्ति पूर्वक दान देने को अतिथि संविभाग कहते हैं। यह गृहस्थ के नित्य षट कर्मों में से एक है। इस प्रकार का दान, देने वाले और लेने वाले दोनों के लिये ही उपकारी होता है। दातार को उत्तम पात्र को दान देने से विशेष पुण्य का बन्ध होता है, पात्र को ज्ञान संयमादि की वृद्धि रूप फल होता है। दान दो प्रकार होता है एक पात्र दान, दूसरा करुणा दान।

सङ्ग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

उत्तम पात्रों को दान नवधाभक्ति पूर्वक दिया जाता है पात्रों को अपने और उनके गुण विचार कर यथोचित विधिपूर्वक दान दना चाहिये अपात्रों को भक्तिपूर्वक दान नहीं देना चाहिये, क्योंकि विषय कषाययुक्त अश्रद्धानी पापी जीवों का आदर सत्कार करने से पाप का बन्ध होता है। अपात्रों को दुःखी पीड़ित देखो तो उन पर दयाभाव करके उनका दुःख कष्ट अवश्य ही दूर कर दो, परन्तु उनके प्रति भक्तिभाव न करो; क्योंकि भक्तिभाव करने से उनके पाप की अनुमोदना होती है। नवधाभक्ति १—भक्तिपूर्वक पड़गाह कर घर में ले जाना, २—उच्च आसन देना, ३—चरण प्रक्षालन करना, ४—नमस्कार करना, ५—पूजा करना, ६—मन शुद्धि, ७—बचन शुद्धि ८—काय शुद्धि, ९—आहार शुद्धि अर्थात देने योग्य शुद्ध आहार का देना।

दाता के सात गुण यह हैं

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६९॥

१—इस लोक सम्बन्धी फल जैसे रत्न वृष्टि, यश, सौभाग्य आदि की चाह का न होना, २—क्षमा, ३—निष्कपटता अर्थात् कपट न हो, कि बाहर से तो भक्ति करे अन्तरङ्ग में उसे बुरा जाने; ४—दूसरे दातार से ईर्षाभाव न रक्खे, ५—अखिन्नभाव अर्थात् ऐसा भाव न करे कि अमुक अच्छी वस्तु हमारे लिये थी, हमने यूं ही व्यर्थ उनको दान में देदी, ६—दान देकर अपने चित्त में हर्षित होना, ७—निरभिमानता, दान देकर अहंकार का यह भाव न करे कि हम बड़े दातार हैं। दानदाता इन गुणों से संयुक्त होना चाहिये। दान का फल दातार के इन गुणों के न्यूनाधिक होने के अनुसार होता है।

रागद्वेषासंयममदुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥१७०॥

दान देने योग्य पदार्थ—जिन वस्तुओं के देने से राग, द्वेष, मान, दुख, भय आदिक पापों की उत्पत्ति होती है, वह देने योग्य नहीं। जिन वस्तुओं के देने से तपश्चरण, पठन पाठन, स्वाध्यायादि कार्यों में वृद्धि होती है, वही देने योग्य हैं। रागादिक भावों के उत्पन्न करने वाले, पृथ्वी, मकान, घोड़ा, हाथी, सोना, चांदी, शस्त्रादि अथवा कामोद्दीपनादिक विकार पैदा करने वाले पदार्थ या विष आदिक दुःख देने वाले पदार्थ दान देने योग्य नहीं है। इन वस्तुओं के निमित्त से दान लेने वाला जो पाप बन्ध करता है उसका फल दान देने वाले को भी सहायक कारण होने से भोगना पड़ता है। इस लिये ऐसी वस्तुयें ही दान देने योग्य हैं कि जिनके देने से विकार भाव उत्पन्न न हो, और तपश्चरण आदि गुणों की वृद्धि हो। क्षुधा मेटने के निमित्त आहार दान, रोग दूर करने के लिये औषधि दान, अज्ञान दूर करने के लिये शास्त्र दान

अथवा ज्ञान दान, भय निवारण के निमित्त अभय दान देना ही श्रेष्ठ है। अथवा यह चार प्रकार का दान ही योग्य है,और पुण्य बन्ध का कारण है।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

दान के पात्र—जो दान लेने वाले पुरुष सम्यक् दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रय से संयुक्त होते हैं, वेही पात्र कहलाते हैं। पात्र के ३ भेद हैं, उत्तम, मध्यम और जघन्य। सकल चारित्र के धारक सम्यक्त्व युक्त मुनिराज तो उत्तम पात्र, देश व्रती श्रावक मध्यमपात्र और अव्रती सम्यक् दृष्टि जघन्य पात्र होते हैं। पात्र को जिस भाव से दान दिया जाता है, दाता को वैसा ही फल मिलता है। सत्पुरुषों को दान देना कल्प वृक्ष के समान है। शोभा भी होती है, और मन बांछित फल की प्राप्ति भी होती है। लोभी, लम्पटी, पापी पुरुषों को दान देना मुर्दे के विमान कैसी शोभा रखता है। मुर्दे के विमान निकालने में शोभा तो है, परन्तु कुटुम्बियों को कोई सुख न होकर छाती कूटना ही होता है। ठीक इसी प्रकार अपात्र को दान देने से शोभा तो होती है, परन्तु दाता को महापाप का बन्ध होता है।

हिंसायाः पर्य्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्॥ १७२॥

लोभ कषाय हिंसा का ही एक पर्याय है, लोभ के त्याग किए बिना दान नहीं दिया जा सकता। इस लिए दान में लोभ का त्याग होने के कारण अहिंसा धर्म का पालन भी सिद्ध होता है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परान्न पीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति॥१७३॥

जैसे भौंरा भ्रमता भ्रमता जहां बने वहां से फूलों को किसी प्रकार

भी कष्ट न पहुंचाता हुवा, उनकी वासना को लेलेता है, ठीक उसी प्रकार तपोधन के धारक परम वैरागी मुनिराज भी जहां आहार की योग्य विधि बने, वहां दातार को किसी प्रकार भी बाधा न पहुंचाते हुवे आहार लेते हैं। ऐसे सन्तोषी, परम उदासीन वृत्ति के धारक साधु को भी जो दान नहीं देते, वे अवश्य ही लोभी हैं।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरति विषाद विमुक्तः शिथलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

इस अतिथि संविभाग व्रत में द्रव्य अहिंसा तो परजीवों को दुःख दूर करने के निमित्त प्रत्यक्ष ही है, रही भावित अहिंसा, वह भी लोभ कषाय के त्याग की अपेक्षा समझनी चाहिये।

परदातृव्यपदेशः सचितनिक्षेपतत्पिधानेच।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अतिथि संविभाग व्रत के ५ अतिचार हैं। १ परदातृव्यपदेश—अपने हाथ से दान न देना, दूसरे से कह कर दान दिलाना, दूसरे की वस्तु दान देना, २ सचित्त निक्षेप—कमल पत्रादिक साचित्त वस्तुओं में आहार रख कर देना। ३ सचित्तापिधान—सचित्त कमलादि पत्रों से ढके हुवे आहार को दान में देना। ४ कालातिक्रम—दान देने के काल को उल्लङ्घन कर के अकाल में आहार देना, आहार का समय भूल जाना, ५ मात्सर्य—अनादर से देना, या अन्यदातार से ईर्षा भाव कर के दान देना। 'जिस प्रकार अच्छी पृथ्वी में बोया हुवा छोटा सा भी बड़ का बीज अपने समय पर बड़ी भारी छाया को और बहुत से फलों को देता है, उसी प्रकार पात्र को दिया हुवा थोड़ासा भी दान जीवों के लिये समय पर बड़ी भारी विभूति और इच्छानुसार अनेक फलों को देता है।" (समंतभद्र आचार्य)।

सल्लेखना

मरण का काल निकट होने पर श्रावक शान्त भाव से अपने शरीर का त्याग करे, इस लिये आहार और कषाय के त्याग रूप सल्लेखना की भावना निरन्तर करनी योग्य है। सम्यक् प्रकार से काय व कषाय के क्षीण करने को सल्लेखना कहते हैं। सल्लेखना के दो भेद हैं, एक अभ्यन्तर सल्लेखना, और दूसरी वाह्य सल्लेखना। अन्तरङ्ग में क्रोधादिक कषायों के क्षीण करने को अभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। अनुक्रम पूर्वक आहार को घटा कर अथवा सर्वथा त्याग करके काय के क्षीण करने को वाह्य सल्लेखना कहते हैं।

इयमेकैव समर्थाधर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

अन्त समय सल्लेखना की भावना इस प्रकार करनी चाहिये, कि इस मनुष्य भव में जो व्रत नियमादि का पालन करके मैंने धर्म रूप धन कमाया है, उसे मेरे साथ परलोक में ले जाने के लिये केवल सल्लेखना ही सामर्थ है। यदि मरणान्त समय में सल्लेखना न धारण कर सके और परिणाम भ्रष्ट हो जावें तो दुर्गति में जाना पड़ेगा। इस लिये अन्त समय में सल्लेखना अवश्य ही अङ्गीकार करनी चाहिये। मरण दो प्रकार का होता है—एक नित्य मरण और दूसरा तद्भव मरण। आयु श्वासोश्वासादिक दश प्राणों का जो समय समय वियोग होता है, उसे नित्य मरण कहते हैं। और जन्म के नाश होने को तद्भव मरण कहते हैं।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इतिभावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

सल्लेखना का धारण अन्त समय में होता है, परन्तु जीव की आयु समय समय घटती ही जाती है, जिस से निदान मरण ध्रुव है। इस लिये पहले

ही ऐसी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि 'मैं मरण समय सन्यास अवश्य ही धारण करूंगा।' इस प्रतिज्ञा की अपेक्षा यह व्रत पहले ही पाला हुवा समझा जावेगा। यहां कोई प्रश्न करे कि सल्लेखना धारण करने में तो अपघात होता है, आचार्य उसका समाधान इस प्रकार करते हैं।

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखना तनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥

जब जीव यह निश्चय कर लेवे कि अब मेरा मरण समय निकट ही है, तो उस समय सल्लेखना व्रत को धारण करे और उस दशा में विषय कषायादिक को घटावे और राग द्वेष मोहादिक भावों का अभाव करे। ऐसा करने में आत्मघात का दोष नहीं लगता। जैसे कोई व्यापारी अपने मकान में आग लग जाने पर, पहले तो उस आग के बुझाने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब उस का बुझाना असम्भव समझने लगता है, तो वह फिर ऐसा कोई प्रयत्न करता है कि उसका व्यवहार न बिगड़े और उसका माल सुरक्षित रहे। ठीक इसी प्रकार जब शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है तो धर्मात्मा पुरुष निर्दोष रीति से उस व्याधि को दूर करने के लिये औषधादिक का सेवन करता है। परन्तु जब यह समझने लगता है कि अब रोग से बचना असम्भव है, तो सल्लेखना धारण कर लेता है, ताकि उसका धर्म न बिगड़ने पावे। इस प्रकार मरणान्त समय निश्चय करने के बाद धर्म की रक्षा के निमित्त सल्लेखना व्रत का धारण करना अपघात नहीं है। इसी तरह अन्य आपत्ति, संकट, उपसर्ग के पड़ते हुवे भी सल्लेखना से ही मरना योग्य है।

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥१७८॥

जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के वश हो कर या इष्ट

वियोग के खेद वश होकर, या आगामी निदान के वश हो कर अपने प्राणों का घात फांसी खा कर, जल में डूब कर, अथवा विष, अग्नि, शस्त्रादिकों द्वारा, कर डालते हैं उनको निःसंदेह, अपघात का दोष लगता है।

नीयन्तेऽथ कषायाः हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसा प्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९॥

सल्लेखना पूर्वक मरण करने वालों को अपघात का दोष नहीं लगता सल्लेखना में कषायों का क्षीण करना परमावश्यक है। कषाय हिंसा के मूल कारण हैं। इस लिये सल्लेखना में कषायों के क्षीण होने से अहिंसा की सिद्धि होती है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि ।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

जिस प्रकार स्वयम्बर मण्डप में कन्या आप ही अपने योग्य वर को तलाश करके उसके गले में वर माला पहना देती है, ठीक उसी प्रकार मुक्ति लक्ष्मी अपने योग्य व्रतादि संयुक्त जीव को स्वयं अपना स्वामी बना लेती है अर्थात् व्रती श्रावक अवश्य ही कभी न कभी मुक्ति पद को प्राप्त कर लेता है। ऐसा जान कर हर जीव को व्रती श्रावक होना ही योग्य है। आगे समाधि मरण की संक्षिप्त विधि बताते हैं। जब शरीर किसी असाध्य रोग से अथवा वृद्धावस्था से असमर्थ हो जावें, या चेतन अचेतन कृत कोई उपसर्ग उपस्थित हो जावे, या धर्म के विनाश करने वाला कोई विशेष कारण पैदा हो जावे, तब अपने शरीर को पक्के पान के समान, तथा तेल रहित दीपक के समान स्वयमेव विनाश के सम्मुख जान सन्यास धारण करे। यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह हो तो मर्यादा पूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा करे, कि जो इस उपसर्ग में मेरी मृत्यु हो जावेगी तो मेरे आहारादिक का सर्वथा त्याग है, और, जो कदाचित् जीवन बाकी रहेगा

तो आहारादिक ग्रहण करूंगा। असाध्य रोग हो जाने पर जब किसी भी इलाज से आराम होता नजर न आवे, तो क्लेशित परिणाम भी न हो कर संमय पूर्वक मन, बचन, काय के व्यापारों को आत्मा में एकात्रित करना चाहिये। और "जन्म जरा मृत्यु शरीर सम्बन्धी हैं, मेरे नहीं हैं, मैं तो निर्विकार शुद्ध, शिवस्वरूप हूँ" ऐसा वन कर निर्ममत्व हो कर विधि पूर्वक आहार घटा कर शरीर को कृश करना चाहिये। फिर चार प्रकार के संग को साक्षी कर समाधि मरण में उद्यमवान होना चाहिये। समाधि मरण करने वाला पहर दोपहर काल की मर्यादा पूर्वक भी त्याग कर सक्ता है । यदि समाधि मरण के बिना मृत्यु हो जाती है तो अन्त मरण बिगड़ जाता है, और कुगति में जाना पड़ता है। सन्यास पुरुष के लिये उचित्त है कि जहां तक बने, जिन भगवान की जन्मादि तीर्थ भूमियों का आश्रय ग्रहण करे, और यदि ऐसा स्थान न प्राप्त हो सके तो अपने घर में ही निर्मोही होकर धर्मात्माओं तथा संयमी जनों के आश्रय में रहे । सब से क्षमा की याचना करे और आप भी मन, वचन, काय पूर्वक सब प्राणियों को क्षमा करे, क्योंकि अन्त समय क्षमा करने वाला संसार का पारगामी होता है। सहधर्मी तथा आचार्यों की सहायता प्राप्त कर लेना सल्लेखना व्रत के पालन के लिये बड़ा उपयोगी होता है। यदि असावधानता के कारण व्रत में कोई दोष लगता नजर आता है, तो वह अपने उपदेश द्वारा, उसको सावधान कर सल्लेखना व्रत को निर्विघ्नता पूर्वक पूर्ण करने में उसकी पूरी पूरी सहायता करते हैं। यदि व्रत में कोई किसी प्रकार का अतिचार लगा हो तो सहधर्मियों अथवा आचार्य के सामने प्रगट कर, निःशल्य होकर प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्तोक्त विधियों से शोधन करना चाहिये। समाधि मरण के लिये पूर्व तथा उत्तर दिशा की ओर मस्तक रखना चाहिये। यदि श्रावक महाव्रत की यचना करे तो आचार्यों को उचित्त है कि उसे महाव्रत देवें, महाव्रत में नग्न होना

चाहिये। आचार्य को चाहिये कि अपने उपदेश द्वारा शरीर की निस्सारता तथा कृतघ्नता दिखा भोजन की इच्छा छुड़ावे—अन्न की तृष्णा दूर कराके, दूध आदि पीने की वस्तुओं को रखावे। फिर उनको घटाकर क्रम से गर्म जल मात्र का नियम करा देवे, और यदि देश, काल, तथा प्रकृति के कारण प्यास की बाधा सहन करने में असमर्थ होवे तो ठंडा पानी मात्र रख लेना चाहिये, और सम्बोधना करनी चाहिये कि हे श्रावक! सल्लेखना अत्यन्त दुर्लभ है, तुम्हें विचारपूर्वक अतिचार आदि दूषणों से इस की रक्षा करना चाहिये। इस के बाद शारीरिक कमजोरी को बढ़ते हुए देख कर और मृत्यु को निकट जानकर आचार्य को उचित है, कि समस्त संघ की अनुमत से संन्यास में दृढ़ कराने के निमित्त जल का भी त्याग करा देवे। इस अनुक्रम से चारों प्रकार के आहार का त्याग होने पर समस्त संघ से क्षमा करावे, और निर्विघ्न समाधि की सिद्धि के लिए कायोत्सर्ग करावे। फिर संसार से वैराग्य तथा उदासीनता उत्पन्न करने वाले कारणों का जप मन्द मन्द वाणी से संन्यासी के कान में करे। महान पुरुषों के दृष्टान्त सुना सुना कर व्यवहार आराधना में स्थिर करे और निश्चय आराधना के निमित्त उपदेश करे, और भली भान्ति मनोहर शब्दों में यह जतलावे, कि हे श्रावक! इस समय तो यह कर्तव्य है कि अन्त-रङ्ग बाह्य परिग्रह के त्याग पूर्वक साम्यभाव से निर्विकल्प समाधि में स्थिर हो कर परम आनन्दामृत का पान करो। इस प्रकार विधि पूर्वक कषाय कृश करते हुवे रत्नत्रय भावना रूप परिणमन से, पंच नमस्कार मन्त्र स्मरण पूर्वक प्राण विसर्जन करना चाहिये।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

सल्लेखना व्रत के ५ अतिचार हैं। १. जीवित शंसा—सल्लेखना

धारण करने के बाद जीने की अधिक इच्छा करना । २. मरणाशंसा—रोगादिक की पीड़ा के भय से घबरा कर जल्दी मरने की वांछा करना। ३. सुहृदानुराग (मित्रानुराग)—अपने मित्रों के साथ की हुई क्रीड़ाओं को याद करना,अथवा मित्रों को याद कराना। ४. सुखानुबन्ध—पूर्व काल में भोगे हुवे भोगों को याद करना। ५. निदान—अगले जन्म में विषय भोगादि सुखों के प्राप्त होने की वांछा करना।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

पंच अणु व्रत, सप्त शील व्रत तथा सल्लेखना व्रत का निरतिचार पालना ही योग्य है। अतिचारों के परिहार से सम्यक्त, व्रत और शील शुद्ध होते हैं, और उन के शुद्ध होने पर आत्मा शीघ्र ही अपने इष्ट पद को प्राप्त हो जाता है, इस ग्रन्थ में सामान्यतया सम्यक दर्शन, १२ व्रत और सल्लेखना का कथन है, अन्य ग्रन्थों में श्रावकों का चारित्र, दर्शन व्रत आदि ११ प्रतिमाओं में बांट दिया गया है, जिससे एक श्रावक धीरे धीरे उन्नति करते हुए मुनि पद की योग्यता प्राप्त कर सके। यहाँ पाठकों के सुभीते के लिए ११ प्रतिमाओं का कुछ संक्षिप्त वर्णन कर देना उचित प्रतीत होता है । श्रावकों के आचरण की उन्नति के लिए ११ श्रेणियां हैं, जिन में पहली पहली श्रेणी का आचरण पालते रह कर आगे का आचरण और बढ़ा लिया जाता है। इन्हीं को प्रतिमा कहते हैं। प्रतिमा जैसे अपने आसन में दृढ़ रहती है, वैसे ही स्वकर्तव्य में श्रावक को दृढ़ रहना चाहिये। १. दर्शन प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक अपने सम्यक् दर्शन में २५ दोष नहीं लगाता—अष्टांग सम्यक् दर्शन का आराधन करता है। पञ्च परमेष्ठी के चरण कमल में ही श्रद्धा रखता है, अष्टमूल गुण का धारक होता है, अर्थात् मदिरा, मांस और मधु इन तीन

मकारों और बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर पांच उदम्बर फलों का सर्वथा त्यागी होता है। सप्त व्यसन का भूल कर भी सेवन नहीं करता। इस प्रतिमा का पालन करने वाला श्रावक दृढ़ चित्त निर्भय होता है, यदि कोई परीषह या कष्ट उस पर आ पड़ता है तो अपने नियम की प्रतिज्ञा से चिगता नहीं। निदान शल्य, अर्थात् इस लोक सम्बन्धी यश सुख; संपत्ति, या परलोक सम्बन्धी शुभ गति की वांछा से रहित होकर वैराग्य भावना का ही चिंतवन किया करता है। अभक्ष और अन्याय को अत्यन्त अनर्थ का कारण जान त्याग करता है। संसार शरीर और भोगों से विरक्त होता है। माया, मिथ्या और निदान तीनों शल्यों से रहित होकर सम्यक् दर्शन को निरतिचार पालन करता है। २. व्रत प्रतिमा-बारह व्रतों को पालना। इस प्रतिमा का पालन करने वाला पांच अणुव्रतों का अतिचार रहित पालन करता है और उनके सहायक तीन गुण व्रत, और चार शिक्षा व्रत अर्थात् सप्त शील व्रतों को भी निर्दोष पालन करता है। व्रत प्रतिमा का धारक श्रावक दृढचित्त, समभाव संयुक्त, और ज्ञानवान हुवा करता है। ३. सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक नियम पूर्वक, सवेरे, दोपहर, और सन्ध्या समय, प्रतिदिन तीन बार विधि पूर्वक निरतिचार सामायिक किया करता है। सामायिक में कम से कम समय अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट अवश्य लगाना चाहिये। ४. प्रोषधोपवास प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक धर्म ध्यान में लीन होकर, प्रत्येक महीने की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, चारों ही पर्व के दिनों में, अपनी शक्ति को न छिपा कर, नियम पूर्वक निरतिचार प्रोषधोपवास किया करता है। ५. सचित्त त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी श्रावक कंद मूल फल, शाक, कोंपल, जमीकन्द, फूल, बीज आदि पदार्थों को कच्चे नहीं खाता है। जिह्वा इन्द्रिय के विषय को जीतने के आशय से गर्म या प्राशुक पानी पीता है। सचित्त पदार्थ का भक्षण नहीं

करता है। सचित्त को अचित्त बनाने की विधि यह है—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणे हिं मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण या छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥१॥

अर्थात् सुखाया हुवा, पकाया हुवा, तपाया हुवा, खटाई और नमक से मिला हुवा, तथा जो यंत्र से छिन्न भिन्न किया हुवा, अर्थात् शोधा हुआ ऐसा सब हरित काय प्रासुक कहिये जीव रहित अचित्त होता है।

६—रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी ज्ञानी सम्यक् दृष्टि श्रावक रात्रि को न तो आप ही किसी प्रकार का जल पान व भोजन करता, और नहीं दूसरे को कराता है। खाद्य, स्वाद्य, लेय और पेय चारों ही प्रकार के अहार का रात्रि के समय सर्वथा त्यागी होता है। दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट सूर्यास्त से पहले तक व ४८ मिनट सूर्योदय होने पर भोजन पान करना। रात्रि को भोजन सम्बन्धी आरम्भ भी नहीं करना पूर्ण सन्तोष रखना। ७—ब्रह्मचर्य प्रतिमा—जो ज्ञानी सम्यक् दृष्टि श्रावक, समस्त ही चार प्रकार की स्त्री, देवांगना, मनुष्यणी, तिर्यंचनी और चित्राम-रूप आदिक स्त्री की अभिलाषा मन, बचन, काय से नहीं करता है, वही ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक कहा जाता है। इस प्रतिमा का धारक अपनी स्त्री के भोग का भी त्यागी होता है, उदासीन वस्त्र पहनता है और वैराग्य भावना में लीन रहता है। ८—आरम्भ त्याग प्रतिमा—जो श्रावक गृहकार्य सम्बन्धी, नौकरी, चाकरी, खेती, व्यापार आदि समस्त ही आरम्भ से विरक्त हो जाता है अर्थात् इन सब का त्याग कर देता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी कहलाता है। इस प्रतिमा के धारी को यदि अपना पुत्र आदिक या अन्य कोई और भोजन के लिये बुलावे तो जीम आना। परन्तु इस प्रतिमा को धारण करने वाला, अभिषेक, दान, पूजा आदि का त्याग नहीं करता। ९—परिग्रह त्याग प्रतिमा—जो ज्ञानी सम्यक् दृष्टि श्रावक अन्तरङ्ग और बाह्य दोनों २४ प्रकार

के परिग्रह को पाप का कारण जान हर्ष भाव के साथ त्याग करता है वही परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारी कहलाता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक अपने लिये कुछ आवश्यक वस्त्र रख लेता है, धर्मशाला आदि में ठहरता है और भक्ति से बुलाये जाने पर जो मिले सन्तोष पूर्वक जीम लेता है। १०. अनुमति त्याग प्रतिमा—जो खेती, व्यापार आदि आरंभ, धन धान्य आदि परिग्रह, और विवाह आदि इस लोक सम्बन्धी कार्य को पाप का मूल कारण जान कर इन में अपनी सम्माति नहीं देता, वह ममत्व रहित पुरुष अनुमति त्याग प्रतिमा को धारण करने वाला कहलाता है। इस प्रतिमा का धारक घर में भी बैठता है, बाहर चैत्यालय, मठ, मन्दिर में भी रहता है। भोजन के लिये यदि कोई घर का या और कोई श्रावक बुलाने के लिये आता है तो जाकर भोजन कर आता है, जो कुछ गृहस्थ जिमाता है, जीम आता है, ऐसा नहीं कहता कि हमारे लिये अमुक वस्तु तय्यार कर दीजिये। ११—उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा जो सम्यक् दृष्टि श्रावक घर को छोड़ मठ में, मंडप में या मुनियों की वस्तिका में जाकर रहता है, गुरु के पास व्रत धारण कर तपश्चरण करता है, अनेक घरों से प्राप्त हुई भिक्षा का भोजन करता है और कोपीन मात्र खण्ड वस्त्र को धारण करता है, वह उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का धारण करने वाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। इस प्रतिमा में अपने निमित्त बनाये हुवे भोजन का त्यग किया जाता है। जो भोजन ग्रहस्थ ने अपने कुटुम्ब के के लिये बनाया हो, उसी में से भिक्षा द्वारा भक्ति से दिये जाने पर ग्रहण किया जाता है। इस के दो भेद हैं। क्षुल्लक—जो एक खन्ड चादर व एक कोपीन या लंगोट रखते हैं, मोर पंख की पीछी और एक कमण्डल रखते हैं। बालों को कतराते हैं, ग्रहस्थ के यहां थाली में बैठ कर एक बार भोजन करते हैं। ऐलक—जो केवल एक लंगोटी रखते है, मुनि की क्रियाओं का अभ्यास करते है। गृहस्थ के यहां

बैठ कर हाथ में ही भोजन करे। स्वयं मस्तक, दाढ़ी और मूछ के केशों को हाथ से उखाड़ डालता है।

जब इस जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है, तो यह जीव पांचवें गुण स्थान में पदारोपण करता है, और उस गुण स्थान सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं का निरतिचार पालन करता है। इस गुण स्थान में ही प्रत्याख्यानावरण कषाय के तीव्र मन्द भेदों की अपेक्षा ग्यारह प्रतिमारूप श्रावक के एकोदेश चारित्र के भेद किये गये हैं। ज्यों ज्यों कषाय मन्द होते जाते हैं-त्यों त्यों अगली अगली प्रतिमा की प्रतिज्ञा होती चली जाती है। इन प्रतिज्ञाओं में आत्मध्यान का अभ्यास बढ़ाया जाता है और इस से जीव की धीरे धीरे उन्नति होती चली जाती है। यदि जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है तो वह मुनि पद को ग्रहण कर दिगम्बरी दीक्षा ले अपनी आत्मा का अधिक कल्याण करता है। और यदि मुनि पद को ग्रहण करने की शक्ति तथा योग्यता अपने में नहीं देखता तो श्रावक के धर्म का ही पालन करता हुआ मरणान्त समय में अराधना सहित होकर, एकाग्र चित्त कर, पञ्च परमेष्टी का ही ध्यान करते हुए सल्लेखना पूर्वक अपने प्राणों का त्याग करता है, और विशेष पुण्य का बन्ध कर शुभगति को प्राप्त होता है। पहली प्रातिमा से छठी प्रतिमा तक पालन करने वाला जघन्य श्रावक कहलाता है, सातवीं, आठवीं, नवमीं प्रतिमा का धारक मध्यम श्रावक, और दसवीं ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया। जो भव्य मुनिधर्म के पालन के लिये असमर्थ हैं, उन्हें योग्य है कि अपनी शक्ति के अनुसार गृहस्थ धर्म का निर्दोष पालन करें, और अपने जीवन को सफल बनावें।

इति देशचारित्रकथनम्

अथ सकलचारित्रकथन

चारित्रान्तरभावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तै ॥१९७॥

देश चरित्र का वर्णन करने के बाद अब आगे सकल चरित्र का वर्णन करते हैं। पहले बता चुके हैं कि सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की एकता का ही नाम मोक्षमार्ग है। तप चरित्र का ही एक भेद है। "तपसा निर्जरा च" तप करने से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं। मोक्षाभिलाषी पुरुषों के लिये तप सेवन करने योग्य है। तपश्चरण के लिये दो बातों का होना जरूरी है, एक तो अपनी शक्ति को न छिपाना, और दूसरे मन को वस में करना। जो पुरुष अपनी शक्ति को छुपाता है और कहता है कि मुझ से तो तप नहीं हो सकता, उस के लिये तप अङ्गीकार करना असम्भव है। और यदि मन वशीभूत न होवे, तो तप करते हुए भी इच्छा बनी रहेगी, इच्छा के अभाव बिना तप नहीं होता। "इच्छानिरोधस्तपः" इच्छा के निरोध का ही नाम तप है। तप दो प्रकार का होता है एक वाह्य तप और दूसरा अन्तरङ्ग तप। जो तप वाह्य द्रव्य की अपेक्षा होता है, और सब को बाहर से दीखता है वह वाह्य तप कहलाता है। जिस तप का साधन मन के निरोध द्वारा किया जाता है और जो वाह्य से दूसरों को दिखाई नहीं देता वह अन्तरङ्ग तप है।

अनशनमवमदौर्य्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः ।
कायक्लेशो वृत्तेः सङ्ख्या च निषेव्यमिति तपो वाह्यम् ॥१९८॥

वाह्य तप छह प्रकार का होता है। १. अनशन—लौकिक मान बड़ाई की वांछा न कर के संयम सिद्धि के अर्थ, कर्मों के क्षय के निमित्त, कषाय भावों को दूर करने के अभिप्राय से, ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि के लिये, स्वाद्य, खाद्य लेय और पेय चार प्रकार के आहार के त्याग करने का नाम अनशन है।

२. अवमौदर्यसंयम की सिद्धि के अर्थ, निद्रा को जीतने के लिये,सन्तोष, स्वाध्याय की प्राप्ति के निमित्त, भूख से थोड़ा आहार लेने का नाम अवमौदर्य तप है। ३.विविक्तशय्यासन—जीवों की रक्षार्थ,प्रासुक क्षेत्र में,ब्रह्मचर्यपालन तथा स्वाध्याय, ध्यानाध्ययनादिक क्रियाओं को निर्विघ्नता पूर्वक करने के लिये पर्वत गुफा, वस्तिका, श्मशान भूमि, बन, खण्डर, आदि एकान्त स्थानों में सोने बैठने का नाम विविक्तशय्यासन तप है। ४. रसपरित्याग-इन्द्रियों के दमनार्थ, स्वाध्याय आनन्द की प्राप्ति के लिये, आलस्य तथा निद्रा को जीतने के निमित्त दूध, दही, घी, तेल, मीठा, नमक आदि सब रसों का या कुछ का त्याग करना रसपरित्याग कहलाता है। ५. कायक्लेश-शरीर से ममत्व भाव को त्याग कर कठिन कठिन रीति से तपस्या करते हुए, पीड़ा के सहन करने को कायक्लेश नामा तप कहते हैं। इस तप के करने से सुख की अभिलाषा क्षीण होती है, राग का अभाव होता है। दुःख सहन करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, जैन धर्म की प्रभावना बढ़ती है। ६. व्रतपरिसंख्यान—इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके कि "अमुक आहार मिलेगा, अमुक मुहल्ले में मिलेगा, या अमुक रीति से मिलेगा तो आहार करूंगा अन्यथा नहीं" अहार के लिये जाना, और यदि योग्यभिक्षा विधि न बने, तो वापस बन में आकर उपवासादि करना,इस का नाम व्रतपरिसंख्यान नामा तप है। इस तप से आशा, तृष्णा का नाश होता है।

विनयोवैय्यावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोन्तरङ्गमिति ॥१९९॥

अन्तरङ्ग तप भी छह प्रकार का होता है। १ विनय—पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। विनय दो प्रकार की होती है। एक मुख्य विनय, दूसरी उपचार विनय। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को पूज्य बुद्धि से आदर भाव पूर्वक अङ्गीकार करना मुख्य विनय है।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र इन तीनों के धारण करने वाले आचार्यादिकों को आदर पूर्वक नमस्कारादि करना उपचार विनय है। इन्हीं आचार्यादिकों की भक्ति से प्रेरित होकर परोक्ष रूप में उनके तीर्थ क्षेत्रादिकों की वन्दना करना भी उपचार विनय का ही विशेष भेद है। विनय तप से मान कषायक्षीण होता है, ज्ञानादिक गुणों की प्राप्ति होती है। २. वैयावृत्य—पूज्य पुरुषों की भक्ति पूर्वक सेवा, चाकरी तथा टहल करना। इसके भी भेद हैं। कायचेष्टाजन्य—जैसे हाथ से पाँव आदि का दवाना; परवस्तुजन्य—जैसे भोजन में औषधादिक देकर साधुओं के रोग मिटाना। इस तप से गुणानुराग होकर मान कषाय का अभाव होता है। ३. प्रायश्चित्त—प्रमाद से लगे हुवे दोषों को प्रातिक्रमण आदि पाठ, अथवा गुरु के सामने, तप व्रतादि अङ्गीकार करके, या कायोत्सर्गादि करके दूर करने को प्रायश्चित्त कहते है। इस तप से व्रतादिकों की शुद्धता होती है। परिणामों की शल्य मिट जाती है, और भी अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। ४. उत्सर्ग—धन धान्यादिक बाह्य, और क्रोध मानादिक अन्तरङ्ग परिग्रहों में अहंकार ममकार रूप भावों के त्याग करने को उत्सर्ग तप कहते हैं। इस तप से निष्परिग्रहत्व और निर्भयत्व प्रगट होकर मोहक्षीण होता है। ५. स्वाध्याय—ज्ञान भावना में आलस्य न करना, जो कुछ आप जानता है, उसको खुद पढ़ना, दूसरों को सुनाना, किसी शब्द तथा अर्थ में संशय हो जाने पर उसे दूर करने के लिये विशेष ज्ञानियों से पूछना, श्रद्धानपूर्वक जाने हुवे अर्थ को मनन करके अभ्यास करना और बारंबार चिन्तवन करना, पाठ को शुद्धता पूर्वक बारम्बार घोखना (पढ़ना), धर्म के इच्छुक भव्य पुरुषों को धर्मोपदेश देना। यह स्वाध्याय तप है। इस से बुद्धि का विकाश होता है, परिणाम उज्ज्वल रहते हैं। संवेग होता है, धर्म की वृद्धि होती है। इत्यादिक अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। ६. ध्यान—

समस्त चिन्ता का निरोध कर धर्म में या आत्म चिन्तवन में एकाग्र होने का नाम ध्यान है। अर्हन्त आदिक के चिन्तवन में प्रवर्तना शुभ ध्यान है। केवल शुद्धात्माओं में एकाग्र होना शुद्ध ध्यान है। ध्यान चार प्रकार का होता है आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान। इन में से आर्तध्यान और रौद्र ध्यान तो सर्वथा ही त्याज्य है। धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान ग्रहण करने योग्य हैं। इन दोनों ध्यानों के सिवाय अन्य समस्त ध्यान भयानक संसार का कारण हैं। इस तप से चारित्र भाव सम्पूर्णता को प्राप्त होता है, मन वशीभूत होकर अनाकुलता की प्राप्ति होती है, और मन आनन्द में मग्न हो जाता है। ध्यान के विशेष स्वरूप के लिये ज्ञानार्णव ग्रन्थ को पढ़ना चाहिये।

जिनपुङ्गव प्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

इस ग्रन्थ में मुख्यता से गृहस्थाचरण का ही वर्णन किया गया है, मुनि आचरण का जो कुछ भी थोड़ा बहुत वर्णन किया गया है, वह भी गृहस्थाचार के प्रयोजन से ही किया गया है। जिस प्रकार मुनीश्वर मोक्ष मार्ग के साधन में सर्वदेश प्रवृत्ति करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थी का भी मोक्ष मार्ग में एकोदेश प्रवृत्ति करना कर्तव्य है। इसलिये श्रावकों को भी अपनी पदवी के अनुसार अपनी योग्यता और शक्ति का विचार करके मुनियों के आचारण को भी एकोदेश ग्रहण करना चाहिये।

इदमावश्यक षट्कं समतास्तव वन्दना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम् ॥२०१॥

साधुओं के षट आवश्यक यह हैं। १. समता—राग द्वेष रहित, साम्य भाव का करना अर्थात् सामायिक करना। २. स्तवन—तीर्थंकरके गुणों का कीर्तन करना, उनके गुणों की महिमा गाना, स्तुति करना। ३. बन्दना-

तीर्थंकर को नमस्कार करना, उनके सन्मुख सिर आदि अङ्गों को नम्री भूत करना। ४.प्रतिक्रमण—प्रमाद द्वारा लगे हुए पिछले दोषों को दूर करना। ५.प्रात्याख्यान—त्याग भाव से आगामी काल संबन्धी आस्रव का रोकना। ६.कायोत्सर्ग—काय से ममत्व भाव का त्याग करना ।सामायिक या ध्यान के समय पाषाण की मूर्ति के समान निष्कम्प और अचल होना, ऐसा कि अनेक कारण मिलने पर भी चलाचल न होवे। इन छहों क्रियाओं का नित प्रति करना जरूरी है। इसीलिये इनको षट आवश्यक क्रिया कहा जाता है। मुनियों को तो इन को नित प्रति करना ही पड़ता है, श्रावकों को भी चाहिये, कि अपनी पदवी के अनुसार जो क्रिया उन से बन सके उस को ग्रहण करें।

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य ।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

भले प्रकार मन वचन काय योगों की यथेच्छा प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। गुप्ति तीन हैं—१. मनोगुप्ति—ख्याति, लाभ,मान की बांछा के बिना, मनोयोग को रोकना। २.वाग्गुप्ति—ख्याति, लाभ, मान की बांछा के बिना, वचनयोग को रोकना। ३.कायगुप्ति—ख्याति, लाभ, मान बांछा के बिना, काययोग को रोकना। गुप्ति ही मुनि पद का मूल है, गुप्ति बिना सम्यक् चरित्र नहीं होता और सम्यक् चरित्र बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गाः सम्यगिति समितिः ॥२०३॥

समिति—सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समिति पांच होती हैं। "ईर्या भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः" (तत्वार्थसूत्र अ० ९, सू० ५) १. ईर्या समिति—"परमाद तज चौकर मही लखि समिति ईर्या-

तेचलैं" परम अहिंसा के धारक, जीवों की उत्पत्ति स्थानों के जाननहारे साधु सावधान होकर, सूर्योदय के बाद, जब हर एक चीज अच्छी तरह से दिखाई देने लगे, और पृथ्वी मनुष्य, हाथी, घोड़े, गाड़ी आदि के चलने फिरने से मर्दित होकर प्रासुक होजावे, तब आगे की चार हाथ प्रमाण-भूमि को भले प्रकार देख कर धीरे धीरे चलते हैं। इस प्रकार चलने की क्रिया का नाम सम्यगीर्या-समिति है। २. भाषासमिति—"जग सुहित कर-सब अहित हर श्रुति-सुखद सब संशय हरे। भ्रमरोग हर जिन के बचन मुख चन्द्र तें अमृत झरे।" हित, मित, सन्देह रहित बचनों का बोलना, कर्कश, निष्ठुर, अप्रिय बचन न बोलना। इस का नाम सम्यक् भाषा समिति है। ३. एषणासमिति—विधिपूर्वक दिन में एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना, "छयालीस दोष बिना, सुकुल श्रावक तने घर अशन को; लैं तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन पोषते, तज रसन को"। मुनिराज छयालीस दोषों को टाल कर कुलीन श्रावक के घर केवल तपवृद्धि के अभिप्राय से, दिन में एक बार आहार लेते हैं, शरीर के पुष्ट करने का उन का मतलब नहीं होता। इस का नाम सम्यक् एषणासमिति है। ४. आदान निक्षेपण समिति—शरीर, पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों को देख कर और पीछी से शोध कर यत्नाचार पूर्वक उठाना तथा रखना। इस का नाम सम्यगादान निक्षेपण समिति है। "शुचि ज्ञान सञ्जमउपकरण, लखि कर गहैं, लखि के धरैं"। ५. व्युत्सर्गसमिति—नेत्रों से देख कर, यत्नाचार पूर्वक प्रासुक जीवजन्तु रहित भूमि पर मलमूत्रादि को डारना। भूमि गीली न हो, उस में हरे अंकुरे न फूट रहे हों, लोगों के आने जाने के रास्ते से दूर हो, ऐसे स्थान में मलमूत्र डालना। इस का नाम व्युत्सर्गसमिति है। "निर्जन्तु थान विलोक तनमल, मूत्र, श्लेषम परिहरैं"। ये पाञ्च समिति मुनिव्रत का मूल है। मुनिराज अपने चारित्र की शुद्धि के लिए इन का निर्दोष

पालन किया करते हैं। श्रावकों को भी यथा शक्ति इन का पालन करना चाहिये। मुनिराज तो पूर्णतया पालन करते हैं, श्रावक एकोदेश कर सक्ते हैं।

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

"उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः" (तत्वा० सू० अ० ९ सू० ६) उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं। १. उत्तम क्षमा-"बिना दोष दुर्जन दुख देय; समरथ होय सकल सह लेय। क्रोध कषाय न उपजे जहां, उत्तम छिमा कहावे तहां"। (पार्श्व पुराण) दुष्ट लोगों के द्वारा तिरस्कार, हास्य, ताड़न, मारण आदि क्रोध की उत्पत्ति के कारण मिलने पर भी और अपने में सामर्थ्य होते हुए भी, परिणामों में क्रोध कषायरूप मलिनता न लाने को उत्तम क्षमा कहते हैं। क्रोध कषाय जीव का एक महान बैरी है, इस क्रोध बैरी का जीतना क्षमा है। क्रोध इस जीव के सन्तोषभाव, निराकुलताभाव आदि समस्त ही गुणों को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है। क्रोध जीव की बुद्धि को भ्रष्ट कर निर्दयी बना देता है। वे जीव लोक में पुण्यवान हैं, जिन के क्षमा गुण प्रगट होता है। जहां उत्तम क्षमा होता है, वहां रत्न त्रय धर्म होता है। विद्वानों के लिए उत्तम क्षमा चिन्तामणि रत्न के समान है। मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए उत्तम क्षमा दीपक के समान है। जहां असमर्थ जीवों के दोष क्षमा किये जाते हैं, जहां असमर्थों के ऊपर क्रोध नहीं किया जाता, जहां आक्रोश बचनों को समता भाव के साथ सहन किया जाता है, जहां दूसरों के दोष प्रगट नहीं किए जाते, जहां चित्त में आत्मा का चैतन्य गुण धारण किया जाता है, वहां ही उत्तम क्षमा होती है। उत्तम क्षमा का

धारण करने वाला जीव समस्त लोक में पूज्य होता है, परम्पराय से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

२. उत्तममार्दव—"आठ महा मद पाय अनूप, निरभिमान वरतै मृदु रूप।
मान कषाय जहां नहीं होय, मार्दव नाम धरम है सोय॥

कुलमद, जातिमद, रूपमद, ज्ञानमद, धनमद, बलमद तपमद, प्रभुता मद इन आठ प्रकार के मद अर्थात मान न करने को उत्तम मार्दव कहते हैं। मान कषाय का अभाव होने पर ही मार्दव नामा गुण आत्मा में प्रकाश मान होता है। मार्दव धर्म दया धर्म का मूल कारण है, जिस के हृदय में मार्दव गुण होता है वह सब जीवों का हित करने वाला होता है। मार्दव गुण सहित जीवों का ही व्रत पालना, संयम धारण करना, ज्ञान का अभ्यास करना सफल है, अभिमानी का निष्फल है। अभिमानी के जिनेन्द्र भगवान के गुणों में भी प्रीति नहीं होती, और अन्य साधारण पुरुषों की विनय करने की तो बात ही क्या है ? मार्दव धर्म से ही जिनेन्द्र देव की भक्ति प्रकाश होती है, मार्दव धर्म कुमति का नाश करने वाला है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र विनय और व्यवहार विनय मार्दव धर्म से ही बढ़ती हैं। मार्दव धर्म से आत्मा के परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं। मार्दव गुण का धारी पुरुष तीनों लोक को मोहित कर लेता है। मार्दव गुण के धारी, बालक का, बूढ़े का, निर्धन का, रोगी का, मूर्ख का तथा जाति कुलादि हीन पुरुषों का भी यथा योग्य प्रिय बचनों द्वारा, तथा यथायोग्य स्थान-दान द्वारा आदर सत्कार करने में कदाचित भी नहीं चूकते। वे कभी भी न कोई उद्धतता का बचन कहते हैं और न कोई अन्य उद्धतता का व्यवहार करते हैं, वे सदैव ही उद्धतता रहित, अभिमान रहित, नम्रता तथा विनयसहित ही जगत में प्रवर्तते हैं। ऐसा जान मान, कषाय का अभाव कर, मार्दव गुण का प्रकाश करना ही भव्य आत्माओं का कर्तव्य है।

३. उत्तम आर्जव—जो मन चिंते सो मुख कहे, करे कायसों कारज वहे।
माया चार न उरपाइये, आर्जव धर्म यही गाइये।

मन बचन काय की कुटिलता के अभाव का नाम आर्जव है, अर्थात् कपट, छल, फरेब, दगा बाजी के त्याग को आर्जव कहते हैं। मायावी पुरुष के व्रत, संयम, तपश्चरणादिक सभी निष्फल होते हैं। माया एक शल्य है, जिस के हृदय में शल्य है वह "निःशल्यो व्रती" के अनुसार वाह्य में व्रतादिक के करते हुवे भी व्रती नहीं कहा जा सक्ता। आर्जव धर्म आत्मा का एक गुण है जो माया कषाय के अभाव से प्रगट होता है। आर्जव धर्म अतिन्द्रिय सुख का पिटारा है, संसार रूप समुद्र से पार होने के लिये जहाज़ के समान है, अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को प्राप्त कराने हारा है। ऐसा जान कुटिलता को त्याग, आर्जव धर्म का धारण करना ही योग्य है।

४. उत्तम शौच—पर कामिनि पर दरब मंझार, जो विरक्त वर्तें छल छार।
अन्तर शुद्ध होय सर्वंग, सोई शौच धर्म को अंग॥

अन्तरङ्ग में लोभ कषाय के अभाव होने को और बाह्य में शरीरादिक के पवित्र रखने को शौच कहते हैं। स्नान रूप वाह्य शौच ग्रहस्थों के ही लिये है, मुनियों के लिये नहीं। शौच धर्म आत्मा का एक अखंड गुण है, लोभ कषाय के अभाव होने से प्रगट होता है, शास्त्रों के पठन पाठन से, उत्तम उत्तम गुणों के मनन करने व विचार करने से शौच धर्म होता है। माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्यों के अभाव और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के त्याग से शौच धर्म होता है। ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना ही शौच धर्म है, आत्मा के निर्मल परिणाम होने से शौच धर्म है, शौच धर्म का ऐसा स्वरूप जान, अपने निजस्वरूप में दृष्टिधार अशुभ भावों का अभाव कर अपने आत्मा को शुद्ध करो।

५. उत्तमसत्य—बोले बचन स्वपरहितकार, सत्य स्वरूप सुधा उनहार।
मिथ्या वचन कहे नहिं भूल, सोई सत्य धर्म तरु मूल ॥

मीठे, हित मित, स्वपरहितकारी सत्य बचन बोलना, कुबचन का त्याग करना, इसका नाम उत्तम सत्य है। सत्य बचन दया धर्म का कारण है, समस्त दोषों को दूर करने वाला है, इस भव और परभव में सुख देने वाला है, सत्य वचन संसार में निरुपमेय है। सत्य धर्म से अन्य गुणों की महिमा बढ़ती है, सत्य धर्म से समस्त आपत्तियां नाश हो जाती हैं। ऐसा जान सदा हितरूप और परिमित बचन कहो, दूसरे को दुख पहुंचाने वाले या दूसरे को किसी प्रकार भी बाधा करने वाले बचन कदापि न कहो।

६. उत्तम संयम—मन समेत ये इन्द्री पञ्च, इनको शिथिल करे नहीं रञ्च।
त्रस स्थावर की रक्षा जोय, संयम धर्म बखान्यो सोय ॥

पांच इन्द्रिय और मन का निरोध करना, तथा छह काय के जीवों की रक्षा करना संयम कहलाता है। यह संयम दो प्रकार का होता है—१. इन्द्रिय संयम २. प्राण संयम, इन्द्रियों के विषयों में रागभाव के अभाव को इन्द्रिय संयम कहते हैं। छह काय के जीवों की रक्षा करने का नाम प्राण संयम है। पंच व्रतों का धारण करना, पंच समिति का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, मन, बचन, काय तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना, तथा इन्द्रिय विजय को ही परमागम में संयम कहा गया है। संयम पाना महान दुर्लभ है। संयम सम्यग्दर्शन को पुष्ट करता है, संयम मोक्ष का मार्ग है, संयम बिना मनुष्यभव शून्य है, गुण रहित है। संयम बिना यह जीव अनेक दुर्गतियों को प्राप्त होता है। संयम बिना दीक्षा ग्रहण करना, व्रत धारना मुण्ड मुण्डावना, नग्न रहना, भेष धारना, ये सब ही वृथा है। संयम ही जीव को इस भव में और परभव में शरण है। दुर्गतिरूप सरोवर के शोषण के लिये संयम ही सूर्य के समान है, संसार परिभ्रमण का नाश बिना संयम

नहीं हो सक्ता। ऐसा जान संयम को यथाशक्ति धारण करो और निरन्तर ऐसी भावना करो कि संयम बिना जीवन की एक घड़ी भी न जावे।

७. उत्तम तप—ख्याति लाभ पूजा सब छण्ड, पञ्चकरण को दीजे दण्ड।
सो तप धर्म कहो जग सार, अनशनादि बारह परकार॥

मान बड़ाई के भाव बिना, कर्म क्षय करने के लिये, अनशन आदि बारह प्रकार के तप करना, तथा इच्छा का निरोध करना उत्तम तप है। इच्छा का निरोध कर विषयों में राग घटावना तप है। तप से जीव का कल्याण होता है, काम, निद्रा, प्रमाद को नष्ट करने वाला है। इस लिये मद छोड़ बारह प्रकार तप में से जैसा जैसा करने को अपनी सामर्थ होवे, वैसा ही तप करना चाहिये। अपना संहनन, बल, वीर्य, तथा देश, काल, आहार की योग्यता को देख कर ही तप करना चाहिये। जिस तप में उत्साह बढ़ता रहे और परिणामों की उज्ज्वलता बढ़ती जावे, वही तपश्चरण करना योग्य है।

८. उत्तम त्याग—संयमधारी व्रति परधान, दीजै चउ विधि उत्तम दान।
तथा दुष्ट विकलप परिहार, त्याग धर्म बहुसुख करतार॥

सर्व विभाव भावों का त्याग करना, निज चेतन स्वभाव का ग्रहण करना निश्चय त्याग है। व्यवहार में त्याग दान को कहते हैं। निःपरिग्रही होने के कारण मुनि शास्त्र व्याख्यान अर्थात् ज्ञान दान और सर्व जीवों को अभय दान ही दे सकते हैं। श्रावक के लिये ज़रूरी है कि चार प्रकार का दान, आहारदान, औषधि दान, शास्त्रदान और अभय दान, पात्रों को भक्ति पूर्वक और दीन दुःखी जीवों को करुणा बुद्धि पूर्वक देवे।

९. उत्तम आकिञ्चन्य-बाहिज परिग्रह को परित्याग, अन्तर ममता रहे न लाग।
आकिञ्चन्य यह धर्म महान, शिव पददायक निश्चय जान॥

अन्तरङ्ग तथा बाह्य के २४ प्रकार के परिग्रह के अभाव, को तथा शरीरादिक में ममत्व भाव न रखने को उत्तम आकिञ्चन्य कहते हैं। "अपने ज्ञान,

दर्शनमय स्वरूप बिना अन्य किञ्चित मात्र भी हमारा नहीं है। मैं किसी अन्य द्रव्य का नहीं हूँ, मेरा कोई अन्य द्रव्य नहीं है" ऐसे अनुभव को आकिञ्चन्य कहते हैं। आकिञ्चन्य परम वीतराग पने की ही दशा का नाम है। आकिंचन्य धर्म मुख्यतया साधुजनों को ही होता है। तथापि एकोदेश धर्म का पालनहारा गृहस्थ भी है जो इस धर्म के ग्रहण करने की इच्छा करता है, गृहस्थाचार में मन्द रागी होता है, परिणामों में उदासीनता धारण करता है और प्रमाणीक परिग्रह को ही रखता है। आगामी बाञ्छा रहित होता है, अन्याय का धन कदापि ग्रहण नहीं करता है। अल्पपरिग्रह में सन्तुष्ट रहता है, परिग्रह को दुःख देने वाला जान उसे अत्यन्त अस्थिर मानता है।

१०. उत्तमब्रह्मचर्य—बड़ी नारी जननी समजान, लघु पुत्री सम बहिन बखान।
तज विकार मन बर्ते जेह, ब्रह्मचर्य परिपूरण एह ॥

स्त्री संभोग के त्याग तथा परम ब्रह्म आत्मा में ही रमण करने को उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना समस्त व्रत, तप असार है, ब्रह्मचर्य बिना समस्त काय क्लेश निष्फल है। ब्रह्मचर्य व्रत को मन, बचन, काय द्वारा प्रेमपूर्वक पालन करने से जीव परमपद को प्राप्त हो जाता है, यदि शील की रक्षा चाहते हो, उज्वल यश तथा कीर्त्ति चाहते हो, धर्म को निर्दोष पालन करना चाहते हो, तो ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करो, जिस प्रकार अपना आत्मा काम के राग से मलीन न होवे, उस प्रकार यत्न करो और इन्द्रिय के सुख से विरक्त होकर अन्तरङ्ग परमात्मस्वरूप आत्मा की उज्वलता तथा निर्मलता को ही अवलोकन करो। इस प्रकार दश लक्षण धर्म का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। दश लक्षण धर्म कोई परवस्तु नहीं है, यह आत्मा का निज स्वभाव है। क्रोधादिक कर्म जनित उपाधियों के दूर होने पर स्वयमेव ही यह दश-लक्षण रूप आत्मा का निज स्वभाव प्रगट हो जाता है। क्रोध के अभाव से क्षमा, मान के अभाव से मार्दव, माया के

अभाव से आर्जव, लोभ के अभाव से शौच, असत्य के अभाव से सत्य-धर्म, कषायों के अभाव से संयमगुण, इच्छा के अभाव से तप गुण प्रगट होते हैं। परमें ममतारूप परिणामों के अभाव से त्याग धर्म होता है, पर द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करने से आकिञ्चन्य धर्म प्रगट होता है। तीन वेद छह कषाय के अभाव से तथा आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करने से ब्रह्मचर्य धर्म प्रगट होता है। यह दस प्रकार का धर्म आत्मा का स्वभाव है। यह किसी जगह से मोल देकर लिया नहीं जा सक्ता, किसी जगह पहाड़ में, बन में, तीर्थ में, मन्दिर में, रखा नहीं जो वैसे ही उठाकर लाया जा सके, यह तो आत्मा का निज स्वभाव है, समस्त क्लेश दुःख रहित स्वाधीन आत्मा का ही सत्य परिणमन है। इस का लाभ सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान से ही होता है। यह दश लक्षण धर्म मोक्ष मार्ग का मूल है। मुनिराज तो इस धर्म का पूर्णतया पालन करते हैं, श्रावकों को भी इन का पालन अपनी योग्यतानुसार यथाशक्ति अवश्य ही करना चाहिये।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यत्वशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्ज्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

द्वादशानुप्रेक्षा बारह भावना "अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-संवर निर्जरा लोक बोधि दुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः।"

(तत्वा०सू० अध्या० ९सू० ७), अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व अशुचि आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ, धर्म, इन बारह भावनाओं का चिंतवन बार बार करना योग्य है। यह भावनायें वैराग्य उत्पन्न करने के लिये माता के समान हैं। जैसे हवा के लगने से अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही बारह भावनाओं का चिंतवन करने से समता रूपी सुख प्रकाशमान होता है। छह ढाला में इन का स्वरूप भली प्रकार वर्णन किया गया है।

जोबन ग्रह गो धन नारी । हय गय जन आज्ञा कारी ॥
इन्द्रीय भोग छिन थाई । सुर धनु चपला चपलाई ॥

संसार, शरीर भोग, इन्द्रियों के विषय, धन यौवन आदि सब असार हैं, थिर रहने वाले नहीं है । जैसे इन्द्र धनुष देखते देखते नष्ट हो जाता है बिजली झट से अपना चमत्कार दिखा नष्ट हो जाती है, वैसे ही इन्द्रियों के भोग तथा धन यौवन आदि क्षण भंगुर हैं । आत्मा ही नित्य है, अखंड है, ध्रुव है । ऐसा विचार बार २ करना, यह अनित्य अनुप्रेक्षा है ।

सुर असुर खगाधिप जेते । मृग ज्यों हरि काल दलेते ॥
मणि मंत्र तंत्र बहु । होई मरते न बचावे कोई ॥

जैसे सिंह हरिण को आ दबोचता है, उसी तरह काल, देव, असुर, चक्रवर्ती आदि सब को आदबोचता है, और नष्ट कर डालता है, मणि यंत्र तंत्र आदि कितने ही उपाय क्यों न किये जावें, आयु कर्म के पूर्ण हो जाने पर कोई भी जीव को मरण से नहीं बचा सकता । जीव को संसार में किसी की भी शरण नहीं है । व्यवहार नय से तो चार शरण है, अरहन्त परमेष्टी की शरण, सिद्ध परमेष्टी की शरण, साधु परमेष्टी की शरण और जिन धर्म की शरण। निश्चय नय से केवल अपनी आत्मा की ही शरण है, इस प्रकार निरन्तर चिन्तवन करने का नाम अशरण भावना है।

शुभ, अशुभ कर्म फल जेते । भोगे जिय एक हि तेते ॥
सुनदारा होय न सीरी । सब स्वारथ के हैं भीरी ॥

अपने शुभ अशुभ कर्मों के फलों को यह जीव आप अकेला ही भोगता है । पुत्र स्त्री आदि कोई भी इस के दुख सुख के साथी नहीं होते । ये सब अपने स्वार्थ के ही सगे होते हैं । आत्मा सदा ही अकेला है । जन्म मरण से अकेला होता है, अकेला ही अनेक अवस्थाओं को धारण करता है । इस संसार में इस जीव का धर्म सिवाय और कोई भी हितु नहीं हैं । निरन्तर इस प्रकार

चिन्तवन करना एकत्व भावना है

जल पय ज्यों जिय तन मेला। पै भिन्न भिन्न नहीं भेला॥
तो प्रगट जुदे धन धामा। क्यों है मिल इक सुतरामा॥

जल और दूध की तरह शरीर और जीव का मेल अनादि काल से हो रहा है, परन्तु दोनों जुदा जुदा हैं, एक नहीं है। जब अनादि काल से मिले हुवे हो कर भी यह एक नहीं हैं, तो धन धान्य, मकान, पुत्र, स्त्री आदि जो सर्वथा ही अपने से जुदा हैं अपने कैसे होंगे। इस प्रकार शरीर कुटुम्बादिक से अपने स्वरूप को सर्वथा भिन्न चिन्तवन करने का नाम अन्यत्व भावना है।

पल रुधिर राध मल थैली। कीकसवसादितैं मैली॥
नव द्वार बहैं घिन कारी। अस देह करे किमयारी॥

यह शरीर मांस, खून, पीप, और विष की थैली है। हड्डी, चरबी आदि अपवित्र वस्तुओं के कारण मैली है। जिस शरीर के नौ रास्तों से महा घृणा उत्पन्न करने वाला मैल बहा करता है, उस मैले शरीर से क्या यारीं करनी। यह शरीर महा अशुचि है, आत्मा ज्ञानमई महा पवित्र है, आत्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध? केवल विचार मात्र से ही भावना नहीं होती। देह को अशुचि विचार करने से, यदि परिणामों में वैराग्य भाव प्रगट होता है तो भावना सत्यार्थ कही जाती है, अन्यथा नहीं। ऐसा चिंतवन करने का नाम अशुचि भावना है।

जो योगन की चपलाई। तातें हो आस्रव भाई॥
आस्रव दुःख कार घनेरे। बुद्धिवन्त तिन्हें निरवेरे॥

हे भाई मन वचन काय की चञ्चलताई से कर्मों का आना होता है। यह कर्मों का आना बड़ा ही दुःखदायी है, बुद्धिवान पुरुष सदैव ही कर्म आस्रव को दूर करने का यत्न किया करते हैं। पांच मिथ्यात्व, बारह अव्रत, २५

कषाय और १५ योग इस प्रकार ५७ द्वारों से जीव के शुभाशुभ कर्मों का आना होता है, इसी का नाम आस्रव है। यह आस्रव दो प्रकार का होता है, शुभास्रव और अशुभास्रव। शुभयोगजन्य कर्मों के आस्रव को शुभ आस्रव और अशुभयोगजन्य कर्मों के आस्रव को अशुभास्रव कहते हैं। आस्रव से बन्ध होता है, जो संसार का मूल कारण है। इसलिए मोक्षाभिलाषी पुरुषों को उचित है कि वह आस्रव और बन्ध के कारणों से विमुख रहें। इस प्रकार आस्रव के स्वरूप का चिन्तवन करना आस्रव भावना है। ५७ आस्रव द्वार का विवरण इस प्रकार है—

पंच प्रकार का मिथ्यात्व। एकान्त मिथ्यात्व—वस्तु में अनेक स्वभाव होते हुए भी एक ही को ग्रहण करना। विपरीत मिथ्यात्व—अधर्म को धर्म जानना, उल्टे श्रद्धान को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। विनय मिथ्यात्व—समस्तप्रकार के देव, कुदेव, सुगुरु कुगुरु, धर्म अधर्म आदि सबको एक सा मानना तथा सब की ही विनय भक्ति करना। संशय मिथ्यात्व—जिनेन्द्र भगवान के वचनों में सन्देह करना। निर्णय न करना अज्ञान मिथ्यात्व-हिताहित की परीक्षा रहित देखा देखी श्रद्धान करना॥ बारह अव्रत-पांच इन्द्रिय और छठे मन का असंयम और छह काय के जीवों की अदया॥ २५ कषाय-अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्यख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इस प्रकार ये १६ कषाय; और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, ये नौ नोकषाय, कुल मिल कर २५ कषाय होते हैं॥ १५ योग—४ मनोयोग; सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, अनुभय मनोयोग; ४ बचनयोग, सत्य बचन योग, असत्य बचनयोग उभय वचन योग। अनुभव वचन योग; ७—काययोग-औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रिय काययोग, वैक्रियक-मिश्र काययोग, आहा-

रिक काययोग, आहारक-मिश्र काययोग, कार्माण काययोग ॥ इस प्रकार कुल मिल कर ५७ आस्रव के कारण होते हैं।

जिन पुण्य पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥

जिन जीवों ने अपने भावों को पुण्य और पापरूप न होने देकर अपने आत्म अनुभव में ही अपने मन को लगाया, उन्होंने ही आते हुए कर्मों को रोका, और संवर की प्राप्ति कर सुख को प्राप्त किया। कर्मों के आस्रव को रोकने का नाम संवर है। संवर के कारण पंच महा व्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, दश लक्षण धर्म, बारह भावना और बाईस, परीषहों के स्वरूप का बार बार चिंतवन करना, संवर अनुप्रेक्षा है।

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप कर जो कर्म खिपावे, सोई शिव सुख दर्शावे ॥

अपनी स्थिति पूर्ण होने पर जो कर्म झड़ जाते हैं, उससे अपना कार्य नहीं बनता, तपश्चरण करके जो कर्मों की, उनकी स्थिति पूर्ण होने से पहले ही नष्ट कर डालता है, वह ही अपने में मोक्ष सुख को दर्शाता है। पूर्व संचित कर्मों के उदय में आकर खिर जाने को निर्जरा कहते हैं, यह निर्जरा दो प्रकार की होती है, एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर, फल दे कर स्वयं कर्म झड़ जाने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सब ही संसारी जीवों के हुआ करती है। कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से पहले ही, उनको तपश्चरण आदि द्वारा, अनुदय अवस्था में झाड़ देने को अविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा सम्यक् दृष्टि व यतीश्वरों के हुआ करती है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप तथा उसके उपायों का बार बार चिंतवन करना निर्जरा भावना है।

चहुं गति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच धरे हैं।
सब विधि संसार असारा, तामें सुख नाहि लगारा ॥

जीव अनादि काल से कर्मोदय के अनुसार चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ अनेक दुखों को सहन करता है,और द्रव्य,क्षेत्र, काल,भव और भाव रूप पञ्च परिवर्तन किया करता है। संसार सब प्रकार से असार है, इसमें ज़रासा भी सुख कहीं नहीं है। नरक गति में नाना प्रकार के छेदन, भेदन ताड़न, तापन आदिक अनेक पीड़ायें उठानी पड़ती हैं। तिर्यंच गति में भूख, प्यास, ज्यादह बोझा उठाना, इत्यादिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। मनुष्य गति में इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग द्वारा अनेक दुख भुगतने पड़ते हैं। अनेक मानसिक चिंतायें नित प्रति सताया करती हैं। देवगति में भी देवाङ्गनाओं के वियोग के समय देव को बड़ा खेद होता है, अन्य देवों को मरते देख अपने मरने का भय सताता है। अपने मरण से पहले माला मुरझाई देख महा व्याकुलता को प्राप्त होता है, तथा अन्य देवों की अधिक सम्पत्ति देखकर ईर्षा पैदा होती है, इत्यादिक अनेक कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। इस प्रकार चारों ही गति दुःख रूप हैं, संसार में कहीं भी सुख नहीं है। पञ्चमगति मोक्ष में ही अतीन्द्रिय,निराबाध, निराकुलता रूप सुख की प्राप्ति इस जीव को होती है। संसार का ऐसा स्वरूप विचार, चारों गतियों से उदासीन हो, मोक्ष का उपाय करना ही जीव का परम कर्तव्य है। निरन्तर ऐसा चिन्तवन करने का नाम संसार भावना है।

किनहू न करो न धरो को, षट् द्रव्य मयी न हरै को।
सो लोक मांहि बिन समता,दुःख सहै जीव नित भ्रमता ॥

इस लोक को न किसी ने बनाया है और न कोई इसे धारण किए हुए है। यह लोक जीव,पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे छः द्रव्यों से भरा हुआ है, कोई भी इसका नाश नहीं कर सकता। इस लोक की

आकृति पुरुषाकार है, लोकाकाश के शिखर भाग में सिद्ध शिला है, जहां अनन्त सिद्ध निवास करते हैं। इत्यादिक लोक की रचना तथा स्वरूप के चिंतवन करने को लोक भावना कहते हैं।

अन्तिम ग्रीवक लों की हद, पायो अनन्त विरियां पद।
पर सम्यक् ज्ञान न लाध्यो, दुर्लभ निज में मुनि साधो॥

इस जीव ने नौग्रीवक तक जाकर अनन्तबार वहां का अहमिन्द्र पद पाया, परन्तु सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति न हुई। ऐसे कठिन सम्यक्ज्ञान को मुनियों ने निज आत्मा में ही साधन किया है, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है जैसा कि भूधरदास जी ने भी कहा है।

धन कन कञ्चन राज सुख, सबै सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान॥

इस प्रकार यथार्थ ज्ञान की दुर्लभता का वार बार चिंतवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

जो भाव मोह तैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारे, तब ही सुख अचल निहारे॥

सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्र तप आदिक जो भाव हैं, वे सब मोह भाव से जुदे हैं, और यही भाव धर्म रूप हैं। इस रत्नत्रय धर्म को जब जीव धारण करता है, तब स्थिर सुख अर्थात मोक्ष के सुख को प्राप्त कर लेता है। वस्तु का निज स्वभाव ही उसका धर्म है। जीव का स्वभाव चैतन्य मई है, इस निर्मल चैतन्यता को प्राप्त करना ही जीव का परम धर्म है। धर्म रत्नत्रय रूप है, धर्म दशल क्षणरूप है, अथवा अहिंसा रूप है। इस प्रकार धर्म के स्वरूप को बार बार चिंतवन करने को धर्म भावना कहते हैं। मुनिराज इनका विचार नित प्रति किया करते हैं, श्रावकों को चाहिये कि इनके चिन्तवन द्वारा वे भी अपने मन को कोमल तथा निर्मल बनावें।

इन भावनाओं के विचार से धर्म में प्रीति बढ़ती है।

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशोमशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखसंयमनम् ॥२०६॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्य्या वधो निषद्या स्त्री ॥२०७॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥२०८॥

बाईस परीषह जय। "क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दंश मशक नाग्न्यारति स्त्री-चर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि।" (तत्वा०सू०अ०९सू०९) १.क्षुधा, २.तृषा, ३. शीत, ४.उष्ण, ५.दंश मशक ६.नाग्न्य, ७.अरति ८.स्त्री, ९.चर्या, १०.निषद्या, ११. शय्या १२ आक्रोश, १३.वध, १४.याचना, १५.अलाभ, १६.रोग, १७.तृण स्पर्श, १८.मल, १९.सत्कार,पुरस्कार, २०.प्रज्ञा, २१.अज्ञान. २२.अदर्शन, यह बाईस परीषह हैं। इन सब परीषहों से शरीर संबंधी वा मन संबंधी जो अत्यंत पीड़ा होती है, उसे समता भाव पूर्वक सहन कर लेने से संवर होता है। और पूर्व बद्ध कर्मों का निर्जरा होती है। मुनिराज तो इन परीषहों को पूर्णतया जय करते हैं। गृहस्थों के लिये भी इनका जय करना परम कर्तव्य है। आगे इनका भिन्न २ स्वरूप कहते हैं।

अनशन ऊनोदर तप पोषत, पाख मास दिन बीत गये हैं।
जोग न बने योग्य भिक्षा विधि, सूख अंग सब शिथिल भये हैं।
तब बहु दुस्सह भूख की वेदन, सहत साधु नहीं नेक नये हैं।
तिन के चरण कमल प्रतिदिन दिन, हाथ जोड़ हम शीस नये हैं॥

मुनिराज पखवाड़ों, महीनों तक अनशन ऊनोदर आदिक कठिन से कठिन तपश्चरण किया करते हैं, यदि, योग्य विधि पूर्वक, निर्दोष, अन्तराय

रहित आहार उनको मिलता है तो ले लेते हैं, अन्यथा फिर उपवास धारण कर लेते हैं। इस प्रकार करते करते यह दशा हो जाती है कि शरीर के सब ही अङ्गोपांग शिथिल हो जाते हैं। भूख की तीव्र दुःस्सह वेदना होने पर भी मुनिराज भूख की बाधा को समता भाव पूर्वक सहन करते हैं। ऐसी वेदना के समय वे विचार करते हैं कि हे जीव! पाप के कारण तू नरक में गया, वहां क्षुधा तो अति तीव्र थी, परन्तु खाने को एक कण मात्र भी नहीं मिलता था, पशु गति में, तथा मनुष्य गति में पराधीन हो कर बन्दीखाने में पड़े पड़े अनेक वार क्षुधा की वेदना को सहन किया है, अब तो मुनि पद को धारण कर तू स्वाधीन हो गया है। इस क्षुधा की अल्प वेदना से क्यों कायर होता है, अन्य मुनीश्वर तो पक्षोपवास, मासोपवास कर रहे हैं, उन्हें क्षुधा की बाधा नहीं होती, तुझे ही क्यों हो? अब तो तू भोजन की लालसा को छोड़, भूख की बाधा को मेट, ज्ञानामृत का पान कर, इस प्रकार क्षुधा की परीषह को जीतने वाले मुनिराज को बारम्बर नमस्कार हो।

पराधीन मुनिवर की भिक्षा, पर घर लेंय कहें कछु नाहीं।
प्रकृति विरुद्ध पारण भुंजत, बढत प्यास की त्रास तहां हीं।
ग्रीषम काल पित्त अति कोपे, लोचन दोय फिरै जब जांहीं।
नीर न चहैं सहैं तिसते मुनि, जयवन्ते वर्तो जग मांही।

मुनिराज का आहार पराधीन होता है, वे दूसरे के घर आहार लेते हैं, अपने मुख से आहार के सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहते, उद्दिष्ट आहार के सर्वथा त्यागी होते हैं। ऐसी दशा में गर्मी की ऋतु में यदि कोई श्रावक उन को प्रकृति विरुद्ध आहार दे देता है, तो प्यास बड़े ज़ोर की लगती है, पित्त की अधिकता से व्याकुलता बढ़ जाती है यहां तक कि गर्मी तथा प्यास के कारण दोनों आंखें फिर जाती हैं। ऐसी हालत हो जाने पर भी

वह जल की याचना किसी से नहीं करते हैं और न ही जल को ग्रहण करते हैं। समताभाव पूर्वक प्यास की बाधा को सहन करते हैं। ऐसी अवस्था में विचारते हैं कि हे जीव तूने संसार में बहुत भ्रमण किया है, कितना ही जल अनेक भव भवान्तरों में तू पी चुका है, परन्तु अब तक तेरी तृषा की वेदना नहीं मिटी। नरक में ऐसी प्यास लगी कि समुद्र जल से भी तृप्त न हो सके, परन्तु वहां एक बून्द मात्र जल भी न मिला। तिर्यञ्च गति में अनेक बार तृषा के कारण अनेक कष्ट सहन किये। मनुष्य गति में परके आधीन हो कर तृषा की वेदना को अनेक बार सहन किया। अब जो तृषा की वेदना है, यह तो उस सब वेदना की अपेक्षा कुछ भी नहीं है। इस वेदना से तू कायर क्यों होता है? अब तो तू स्वाधीन है, तूने परम उत्कृष्ट साधु पद को धारण किया है, तृषा परीषह को सहन कर, समभाव रख, संयम से न डिग, दुर्लभ ज्ञानामृत का पान कर। जो मुनिराज इस प्रकार तृषा परीषह को जीतते हैं वे जग में जयवन्ते हों।

शीत काल सब ही जन कंपै, खड़े जहां बन वृक्ष दहे हैं।
झंझा वायु बहे वर्षा ऋतु, वर्षत बादल झूम रहे हैं॥
तहां धीर तटनी तट चौपट, ताल पाल पर कर्म दहे हैं।
सहैं संभाल शीत की बाधा, ते मुनि तारन तरन कहे हैं॥

शरद ऋतु में सब ही जीव जाड़े के कारण कांपने लग जाते हैं, हरे वृक्ष भी पाले के मारे सूख जाते हैं, वर्षा हो जाने पर ज़ोर की ठंडा हवा चलती है, बादल घूम घूम कर आकाश में छा जाते हैं। ऐसे में वे तपोधन मुनिराज धीर वीर होकर किसी नदी के किनारे, अथवा कहीं किसी ताल की पाल पर जाड़े की हवा की ज़रा भी परवा न करते हुए, ध्यान में निश्चल हो कर्मों की निर्जरा किया करते हैं। वे विचारते हैं हे जीव! तूने नरक में महाशीत की वेदना को सहन किया है, उसके सामने यह वेदना कुछ भी

नहीं है, अब तो तूने मुनि पद को धारण किया है, शीत परीषह को आदर भाव पूर्वक सहन कर। जो मुनिराज इस प्रकार शीत परीषह को मन बचन काय की शुद्धि पूर्वक सहन करते हैं, सच्चे तरण तारण कहलाते हैं।

भूख प्यास पीडै उर अन्तर, प्रज्वलै आंत देह सब दागे।
अग्नि स्वरूप धूप ग्रीष्म की, ताती बाल झालसी लागे॥
तपै पहार ताप तन उपजत, कोपै पित्त देह ज्वर जागे।
इत्यादिक ग्रीष्म की बाधा, सहत साधु धीरज नहि त्यागे॥

ग्रीष्म काल में अन्तरङ्ग में भूख प्यास की पीड़ा सताती है, अन्तडियों में जलन होने लगती है, शरीर गर्मी के कारण व्याकुल हो जाता है, ग्रीष्म काल की धूप अग्नि सारिखी होती है, गर्म लूएं भट्टी की झलों के समान लगती हैं, पित्त का ज़ोर हो जाता है। ज्वर आदि रोग सताने लगते हैं। ऐसे प्रचण्ड ग्रीष्म काल में मुनिराज पर्वतों के उच्च शिखरों पर ध्यान लगाते हैं, नीचे से पहाड़ तपता है, ऊपर से सूर्य की तेज शरीर को जलाती है। इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की अनेक बाधाओं को मुनिराज समता भाव पूर्वक सहन कहते हैं।

अन्तर विषय वासना वर्तें, बाहर लोक लाज भय भारी।
तातें परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहिं सकें दीन संसारी॥
ऐसी दुद्धर नग्न परीषह, जीतें साधु शील व्रतधारी।
निर्विकार बालकवत निर्भय, तिन के पायन धोक हमारी॥

नग्न मुद्रा के धारी, महा अविकारी मुनिराज भयंकर बन में एकाकी रहा करते हैं। साधारण संसारी लोग तो दिगम्बर मुद्रा को धारण ही नहीं कर सक्ते, क्योंकि उनके अन्तरङ्ग में तो विषय वासना होती है, और बाहर से उनको लोक लाज का बड़ा भारी भय होता है। परम शील के धारी दिगम्बर साधु ही नग्न परीषह सहन करने को समर्थ होते हैं। काम कषाय

का सर्वथा अभाव होने के कारण वे, बालकवत्, विकार भाव से शून्य होते हैं, निर्मोही तथा निर्भय होने के कारण रेशम ऊन, सूत, सन वृक्षों के वल्कल आदि के किसी प्रकार के वस्त्र की भी उनको आवश्यकता नहीं होती दशों दिशायें ही उनके वस्त्र का काम देती हैं। ऐसी दुद्धर नग्न परीषह के जीतने वाले साधु ही वन्दना के योग्य हैं।

डांस मांस माखी तन काटे, पीड़े बन पंछी बहुतेरे।
डसे व्याल विषयारे बीछू, लगे खजूरे आन घनेरे॥
सिंह स्याल सुंडाल सतावें, रीछ रोझ दुःख देंय बडेरे।
ऐसे कष्ट सहें सम भावन, ते मुनिराज हरो अघ मेरे॥

संसारी जीव डांस मच्छर आदि के ज़रा काट जाने पर भी खेद खिन्न हो जाते हैं, योगीश्वर नग्न होते हैं, शरीर को नग्न पाकर बन में डांस, मच्छर, चिंवटी, मकौड़े, कान खजूरें, सर्प आदि विषयाले जीव उनसे लिपट जाते हैं, और उनके शरीर को बाधा पहुँचाते हैं। ऐसा होने पर भी वे धीर वीर साधू मन में ज़रा भी खेद नहीं करते बल्कि सारी व्यथा को समता भाव पूर्वक सहनकर अपनी ध्यान अवस्था में ही निश्चल रहते हैं। ऐसे मुनिराज मेरी पापरूपी कालिमा को दूर करें।

देश काल को कारण लहिके, होत अचैन अनेक प्रकारे।
तब तहां खिन्न होंय जगवासी, कलमलाय थिरता पद छांडे॥
ऐसी अरति परीषह उपजत, तहां धीर धीरज उर धारें।
ऐसे साधुन के उर अन्तर, बसें निरन्तर नाम हमारे॥

देश तथा काल सम्बन्धी कारणों के मिलने पर संसारी जीव अनेक प्रकार से खेद खिन्न तथा बेचैन हो जाया करते हैं, परन्तु परम दिगम्बर साधु ऐसे कारणों के उपस्थित हो जाने पर ज़रा भी चित्त में डांवा डोल नहीं होते। अपने चित्त में निश्चलता को ही धारण करते हैं। किसी प्रकार भी अपने संयम में किसी प्रकार की अरुचि नहीं होने देते। संसारी जीव इष्ट पदार्थ के संयोग होने

पर हर्ष करते हैं और उस पदार्थ से राग करते हैं, अनिष्ट पदार्थों के संयोग होने पर खेद खिन्न तथा व्याकुल होते हैं, और उन पदार्थों से द्वेष करते हैं। मुनिराज कदापि किसी भी वस्तु से राग द्वेष नहीं करते, सदैव समता भाव पूर्वक ही व्यवहार करते हैं, उनके लिये शत्रु मित्र, महल और मसान, सोना और काञ्च, निन्दा और स्तुति, पूजन करना तलवार से मारना, ये सब समान हैं। ऐसी अरति परीषह को जीतने वाले साधु का नाम ही नित प्रति स्मरण करने योग्य है।

जे प्रधान केहरि को पकड़े, पन्नग पकड़ पांव से चंपत।
जिन की तिनक देख भौं बांकी, कोटक शूर दीनता जंपत।
ऐसे पुरुष पहाड़ उड़ावन, प्रलय पवन तिय-वेद पयंपत।
धन्य धन्य ते साधु साहसी, मन सुमेरु जिन के नहिं कंपत।

महान पुरुष भी जो सिंह को वश में कर लेते हैं, सर्पको पांव के नीचे कुचल सकते हैं, जो पहाड़ उड़ाने के लिये भी सामर्थ हैं, और बड़े ही वीर हैं, स्त्रियों के हाव भावादिकों से अति विह्वल हो कर मोहित हो जाते हैं और उन्हें अपनी कुछ भी सुधि नहीं रहती। मुनिराज महाशील ब्रत के पालनहारे स्त्री के सङ्ग को ऐसा त्याग देते हैं, जेसे कोई सज्जन पुरुष दुर्जन की सङ्गति को छोड़ देता है। स्त्री के शरीर को महामलीन, दुर्गति का कारण जान उस में आसक्त नहीं होते। समस्त विभाव परणति का त्याग कर, अपनी ही ज्ञानानन्द रूप स्वाभाविक परणति में लीन होते हैं।

चार हाथ परमाण निरख पथ, चलत दृष्टि इत उत नहिं ताने।
कोमल पांव कठिन धरती पर, धरत धीर बाधा नहीं मानें।
नाग तुरङ्ग यान चढ़ चलते, ते सवाद उर याद न आने।
यों मुनिराज भरें चर्या दुःख, तब दृढ़ कर्म कुलाचल भानें॥

संसारी जीव सफ़र में जाते हुवे ऋतु काल का विचार करते हैं अपने

शारीरिक आराम की अनेक सामग्री साथ में ले, घोड़ा, हाथी, रथ, रेल, मोटर आदि में चढ़ कर चलते हैं, फिर भी यदि कुछ जरा सी तकलीफ होती है तो खेद खिन्न हो जाते हैं। यतीश्वर ईर्या पथ शोधते चलते हैं, ग्रीष्म ऋतु में दशों दिशायें तपने लग जाती हैं, लूएं सताती हैं, मार्ग में कंकर कांटे आदि पांवों में चुभते हैं, परन्तु वे इन सब कारणों के मिलने पर भी खेद खिन्न नहीं होते। पहले भोगे हुवे सवारी के सुखों को याद तक नहीं करते। इस प्रकार समता भाव पूर्वक चर्या परीषह को सहन करनें वाले मुनिराज ही कर्मरूपी पहाड़ को भेदते हैं।

गुफा मसान शैल तरु कोटर, निवसें जहां शुद्ध भूहेरें।
परिमित काल रहें निश्चल तन, बार बार आसन नहीं फेरें॥
मानुष देव अचेतन पशु कृत, बैठे विपति आन जब घेरे।
ठौर न तजें भजें थिरता पद, ते गुरु बसो सदा उर मेरे॥

सब ही संसारी जीव सुन्दर स्थानों में रह कर खुश होते हैं। मुनिराज दीक्षा ग्रहण करने से पहले, मनोग्य, सुन्दर, विशाल महलों में रहा करते थे, अनेक प्रकार के भोग विलास करते थे। अब निज स्वरूप को पहिचान निश्चय से अपनी आत्मा को ही अपना स्थान जाना है। परिग्रह का सर्वथा त्याग किया है और निर्जन वन में जहां सिंहादिक अनेक बनचर जीव रहते हैं। पहाड़ों की अन्धेरी गुफाओं में, अथवा श्मशान भूमि में रहना अङ्गीकार किया है। ऐसे विषम स्थानों में निवास करते हुवे, अथवा ध्यान के समय जब कि मुनिराज एकासन स्थित होते हैं तो चेतन, अचेतन कृत अनेक उपसर्गों के उपस्थित होने पर भी महाधीर वीर साधु खेद नहीं मानते, स्थान को छोड़ भागते नहीं, अपने निज स्वरूप को विचार समता भाव पूर्वक उपसर्ग को सहन करते हैं। ऐसे साधु नितप्रति स्मरण करने योग्य हैं।

जे महान सोने के महलन, सुन्दर सेज सोय सुख जोवें।
ते अब अचल अङ्ग एकासन, कोमल कठिन भूमि पर सोवें॥
पाहन खंड कठोर कांकरी, गड़त कोर कायर नहीं होवें।
ऐसी शयन परीषह जीतत, ते मुनि कर्म कालिमा धोवें॥

जगत के सब ही जीव विषयाभिलाषी होने के कारण कोमल शय्या आदि पर ही सोना पसन्द करते हैं। परम योगीश्वर सोने चान्दी के विशाल महलों को तथा सुन्दर और कोमल सेज को छोड़ कर, बन खण्डहर आदि में शयनासन किया करते हैं। क्षीण शरीर में कठोर कंकरी आदि चुभती हैं, तो खेद खिन्न नहीं होते, वे विचारते हैं कि हे जीव! तूने नरकों का वेदना अनेक बार सहन की, नरक की भूमि के समान विषम भूमि कहीं भी नहीं है, यह क्या विषम भूमि है, जिस से तू खेद खिन्न होता है। तूने तो उत्तम जिन मुद्रा को धारण किया है, भव समुद्र से पार हो मोक्ष पद को प्राप्त करना चाहता है। मोह निद्रा को छोड़, योग (ध्यान) निद्रा में आरूढ़ हो। सदैव काल जाग्रत रह कर निज स्वरूप में मग्न हो। शय्या का खयाल तक भी दिल में न ला। पहले राज्य अवस्था में अनेक भोग विलास किये। मनोग्य महलों में सुन्दर सेजों पर जो मजे उड़ाये, उन को याद न कर, संसार के समस्त ही भोगों को रोग समान समझ। इस प्रकार शय्यापरीषह को जीतने वाले मुनिराज़ ही कर्म रूपी कलङ्क को धोने के लिये समर्थ हुवा करते हैं।

जगत जीव यावन्त चराचर, सब के हितु सब के सुखदानी।
तिन्हें देख दुर्वचन कहें शठ, पाखंडी ठग यह अभिमानी॥
मारो याहि पकड़ पापी को, तपसी भेष चोर है छानी।
ऐसे बचन बाण की विरियां, क्षमा ढाल ओढें मुनिज्ञानी॥

मुनिराज जगत के समस्त ही जीवों के सच्चे हितैषी तथा सुख पहुंचाने

वाले होते हैं, दुष्ट लोग उन्हें देख कर नाना प्रकार के खोटे बचन कहते हैं, उन की निंदा करते हैं, गाली देते हैं, कोई कहते हैं, कि इस पापी को मारो, यह पाखंडी है अभिमानी है, तपस्वी के भेष में चोर है। ऐसे निष्ठुर बचनों के सुनने पर भी वे उत्तम क्षमा के धरणहारे साधु क्रोध नहीं करते, चित्त को रंचमात्र भी कलुषित नहीं होने देते । परम क्षमारूपी ढाल से दुष्टजनों के बचनरूपी बाणों के प्रहार को रोकते हैं।

निरपराध निर्वैर महा मुनि, तिन्हें दुष्ट लोग मिल मारें।
केई खेंच थंभ से बांधत, केई पावक में परजारें॥
तापर कोप न करहिं कदाचित, पूर्व कर्म विपाक विचारें।
समरथ होय सहैं बध बन्धन, ते गुरु सदा सहाय हमारे॥

संसारी जीवों को यदि कोई बधबन्धन द्वारा कष्ट पहुंचाता है, तो वे उस से बड़ा द्वेष करते हैं, किसी न किसी प्रकार अपना बदला लेने का प्रयत्न करते हैं। उत्तम क्षमा के धारक महा मुनि को यदि कोई दुष्ट पापी जीव मारते हैं, खेंच कर थंभ से बान्ध देते हैं या कोई और उपद्रव करते हैं, तो वे मुनिराज सामर्थवान होते हुवे भी उन पर कोई क्रोधादि नहीं करते, विचारते हैं कि यह सब कष्ट शरीर सम्बन्धी है, कोई पूर्व बद्ध, अशुभ कर्म उदय में आकर अपना फल दे रहा है । मेरा आत्मा अमूर्तिक है, शुद्ध स्वभाव ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसको कोई बाधा नहीं पहुंच सकती। ऐसे ही साधु सदा हमारी सहाय करें।

घोर बीर तप करत तपोधन, भये क्षीण सूखी गल बाहीं।
अस्थि चाम अवशेष रह्यो तन, नसाजाल झलके जिस माहीं॥
औषधि अशन पान इत्यादिक, प्राण जांय पर याचत नाहीं।
दुद्धर अयाचीक व्रत धारें, करहिं न मलिन धरम परछाहीं।

तपोधन मुनिराज घोर तपश्चरण किया करते हैं, जिस के कारण उन

का शरीर क्षीण हो जाता है । यहां तक कि नसाजाल उस चमड़े में से चमकने लग जाता है । शरीर की ऐसी अवस्था हो जाने पर भी वह औषधि, आहार, जल आदि की याचना किसी से नहीं करते, चाहे उन के प्राण निकल जावें, पर वह अयाचीक व्रत का पालन करते हैं । वह विचारते हैं कि याचना से समस्त ही संसारी जीव दीन हो रहे हैं, इन्द्र चक्रवर्ति आदि भी अभिलाषाओं के वश हो कर रङ्क हो रहे हैं । मुनि की वृत्ति अयाचीक है, जब वह जिनेन्द्र प्रभु से मोक्ष ही नहीं मांगते, तो और किसी से क्या मांगना । याचना न करना मुनि व्रत का मूल है, याचना जीव को संसार में नीच बनाती है, अयाचना व्रत का पालन करने से ही जीव उत्कृष्ट होता है ।

एक बार भोजन की विरियां, मौन साध बस्ती में आवें ।
जो नहीं बने योग्य भिक्षा विधि, ते महन्त मन खेद न लावें ॥
ऐसे भ्रमत बहुत दिन बीते, तब तप विरद भावना भावें ।
यो अलाभ की परम परीषह, सहें साधु सोही शिव पावें ॥

मुनिराज अनेक उपवास करने के बाद, पारणे के दिन बस्ती में आते हैं । यदि योग्य विधि पूर्वक आहार नहीं मिलता है, तो रंचमात्र भी खेद खिन्न नहीं होते हैं । लाभ अलाभ दोनों को समान गिनते हैं । इस प्रकार अलाभ परीषह के जीतने वाले साधु ही मोक्ष के पात्र होते हैं ।

बात पित्त कफ शोणित चारों, ये जब घटे बढ़ें तन माहीं ।
रोग संजोग सोग तन उपजत, जगत जीव कायर हो जाहीं ॥
ऐसी व्याधि वेदना दारुण, सहें शूर उपचार न चाहीं ।
आतम लीन देहसों विरकत, जैन यती निज नेम निबाहीं ॥

शरीर रोगों का घर है, बात पित्त कफ आदि के घटने बढ़ने से अनेक रोग शरीर में हो जाते हैं । संसारी जीव इन रोगों के हो जाने पर बड़े

खेद खिन्न हो जाते हैं। नाना प्रकार के इलाज कराते हैं और रोग जनित पीड़ा के सहन करने में कायर हो जाते हैं। परन्तु जैन यति तीव्र से तीव्र रोग के उपस्थित हो जाने पर भी खेद खिन्न नहीं होते, इलाज की इच्छा तक नहीं करते। शरीर से ममत्व त्याग अपनी आत्मा में ही लीन रहते हैं।

सूखे तृण और तीक्ष्ण कांटे, कठिन कांकरी पांय विदारें।
रज उड़ आय पड़े लोचन में, तीर फांस तन पीर विथारें॥
तापर पर सहाय नहीं वांछत, अपने करसों काढ न डारें।
यो तृण परस परीषह विजयी, ते गुरु भव भव शरण हमारें॥

जगत के जीव जरासी फांस लग जाने पर खेद खिन्न हो जाते हैं, योगीन्द्र के शरीर में यदि त्रण, कङ्करी, फांस आदि चुभ जाते हैं तो वे शूरवीर साहसी, संयम रूपी धन के स्वामी रंचमात्र भी खेद चित्त में नहीं करते, अपने हाथ से त्रण आदि को निकालते नहीं, और न किसी दूसरे से उस के निकालने के लिये प्रार्थना करते हैं। सर्वथा निर्व्याकुल हो निज स्वभाव में ही लीन रहते हैं।

यावज्जीव जल न्हवन तजो जिन, नग्न रूप बन थान खरे हैं।
चले पसेव धूप की विरियां, उड़त धूल सब अङ्ग भरे हैं॥
मलिन देह को देख महामुनि, मलिन भाव उर नाहिं करे हैं।
यों मल जनित परीषह विजई, तिन्हें हाथ हम शीश धरे हैं।

जगत के जीवों के शरीर में जरासा भी पसीना आकर रंचमात्र भी धूल लग जाती है, तो बेचैन हो जाते हैं, साबुन आदि से स्नान कर शरीर को आराम पहुंचाने के अनेक उपाय करते हैं। मुनिराज के यावज्जीव स्नानादि का सर्वथा त्याग होता है, ग्रीष्म काल में धूप की तेजी से पसीना आने से शरीर पर रेत, धूल उड़ कर जम जाता है, शरीर मैला हो जाता है, रेत काटने लगती है। ऐसा होने पर भी मुनिराज अपने चित्तमें जरा

भी खेद नहीं करते। वे विचारते हैं कि हे जीव! यह तेरा शरीर तो इतना मलीन है, कि यदि सारे समुद्र के जल से भी इसे शुद्ध किया जावे, तो भी यह पवित्र नहीं हो सक्ता। तू तो परम पवित्र, अमूर्तिक, शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। धूल आदिक मूर्तिक पदार्थ तुझे कैसे स्पर्श कर सकते हैं। ऐसा विचार देह के नेह को त्यागो और निज स्वरूप में स्थिर रहो।

जे महान विद्या निधि विजई, चिर तपसी गुण अतुल भरे हैं।
तिनकी विनय वचन सो अथवा, उठ प्रणाम जन नाहिं करे हैं॥
तौ मुनि तहां खेद नहिं मानें, उर मलीनता भाव हरे हैं।
ऐसे परम साधु के अहनिशि, हाथ जोड़ हम पांव पड़े हैं॥

संसार में देव, मनुष्य, तिर्यंग आदिक सब ही जीव आदर किये जाने पर हर्षित होते हैं, सत्कार करने वाले को अपना मित्र समझते हैं। अनादर करने वाले को शत्रु समझते हैं। इस प्रकार आदर अनादर के कारण सदैव रागद्वेषरूप परिणति किया करते हैं। वीतरागी यतीश्वरों की इन्द्र, चक्रवर्ति आदिक सब स्तुति वन्दना किया करते हैं, यदि कोई अविवेकी रंक पुरुष उन की निन्दा करता है, तो उनके लिये दोनों समान हैं। वह ऐसा विचार किया करते हैं, कि हमारा आत्मा तो अमूर्तिक पदार्थ है, दृष्टिगोचर नहीं, वचन गोचर नहीं, उसका सत्कार कोई कैसे कर सक्ता है। शरीर पुद्गल-रूप पर पदार्थ है, मलमूत्र का भाजन है, इस में कौनसी ऐसी बात है कि जिसके कारण इसकी स्तुति की जावे। इस लिये, स्तुति होने पर या निन्दा किये जाने पर हर्ष विषाद का मानना सर्वथा व्यर्थ है। जो साधु इस प्रकार सत्कार पुरस्कार की परीषह समताभाव पूर्वक सहन करते हैं, वे वन्दनाके योग्य हैं।

तर्क छन्द व्याकरण कला निधि, आगम अलङ्कार पढ़ जाने।
जाकी सुमति देख परवादी, विलखे होंय लाज उर आने॥
जैसे नाद सुनत केहरि को, वनगयन्द भागत भयमाने।
ऐसी महा बुद्धि के भाजन, पै मुनीश मद रंच न ठाने॥

संसारी जीव ज़रा से लौकिक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ही मान करने लग जाते हैं, कि हमारे जैसा और कोई विद्वान तथा बुद्धिमान नहीं है। महा-मुनीश्वर तर्क छन्द, व्याकरण, कला, आगम, अलङ्कार आदि का संपूर्ण ज्ञान रखते हुवे भी मान नहीं करते।

सावधान वरतें निशिवासर, संयम शूर परम वैरागी।
पालत गुप्ति गये दीरघ दिन, सकल संग ममता परित्यागी॥
अवधि ज्ञान अथवा मन-पर्यय, केवल किरण अजौं नहि जागी।
यों विकलप नहिं करहिं कदाचित, सो अज्ञान विजई बड़ भागी॥

अनादि काल से संसारी जीव, अज्ञान के फन्दे में फंसे हुवे हैं, निज स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और कदापि पढ़ने का अभ्यास भी करें, और शब्दार्थ का ज्ञान न हो तो मन में अति-क्लेशित होकर पढ़ने से मुंह मोड़ लेते हैं,पढ़ना पढ़ाना छोड़ देते हैं। मुनिराज को महा तप करते करते वर्षों वीत जाते हैं, तो भी परिपूर्ण श्रुत ज्ञान नहीं होता, या अवधि ज्ञान, मन पर्यय ज्ञान, या केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तो वह तपोधन मन में खेद नहीं करते। ऐसा विकल्प तक भी नहीं करते कि देखो घोर तपश्चरण करते करते बहुत समय बीत गया है, परन्तु हमारे ज्ञान में कोई भी वृद्धि नहीं हुई।

मैं चिर घोर घोर तप कीने, अजौं रिद्धि अतिशय नहिं जागे।
तप बल सिद्धि होंहि सब सुनिये, सो कछु बात झूठ सी लागे॥
यों कदापि चित्त में नहिं चिंतत, समकित शुद्ध शान्त रसपागे।
सोई साधु अदर्शन विजई, ताके दर्शन सों अघ भागे॥

संसारी जीव सब काम किसी न किसी प्रयोजन से किया करते हैं। इच्छित प्रयोजन के सिद्ध होने में यदि कमी रह जाती है, तो क्लेश मानते हैं। कोई मूढ़ पुरुष तो कार्य की सिद्धि न होने पर अपना अपघात तक कर

बैठते हैं। ऋषिराज को महाव्रत धारण करते, और घोर तपश्चरण करते करते बहुत काल बीत जाता है, फिर भी यदि तप के फल रूप किसी ऋद्धि सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती, तो ऐसा विकल्प कभी भी नहीं करते कि शास्त्र में तो सुनने में आता है कि तप के बल से सब सिद्धि प्राप्त हो जाती है, यह सब बातें झूठी ढकोसला सी ही मालूम पड़ता है। वह संयम के फल में जरासी भी शङ्का न रख अपने धर्म मार्ग में निश्चल रहते हैं और अपने सम्यक् दर्शन को किसी प्रकार भी मलीन नहीं होने देते। इन बाईस परीषहों में से जीव के एक साथ उन्नीस परीषह उदय में आ सक्ती है। क्योंकि शीत उष्ण में से एक काल में शीत या उष्ण एक ही परीषह होगी। और शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनों में से भी एक काल में एक ही होगी। इस प्रकार एक समय में ३ परीषहों का अभाव होने के कारण १९ परीषह ही एक साथ उदय हो सक्ती हैं। प्रज्ञापरीषह और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय होने पर होती हैं। दर्शमोहनी के उदय से अदर्शन परीषह और अन्तराय के उदय से अलाभ परीषह होती है। चारित्र मोहनीय के उदय से नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं। बाकी की क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश मशक, चर्या, शय्या बध, रोग, तृण स्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय होने पर होती हैं। इन बाइस परीषहों का सहन कर लेना परम संबर का कारण है, परीषहों के सहन करने से चित्त निश्चल होता है। चित्त की निश्चलता से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से कर्मों की निर्जरा हो मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। इसलिये मोक्षाभिलाषी मुनि के लिये इन २२ परीषहों का सहन करना अति अवश्यक है।

रत्नत्रय-धर्म

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥२२२॥

सम्यक् दर्शन,सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता होना मोक्ष मार्ग है । इन्हीं को तीन रत्न अर्थात् रत्नत्रय कहते हैं। इनका पालन करना ही मोक्ष का साधन है । यह रत्नत्रय धर्म निश्चय तथा व्यवहारनय की अपेक्षा दो प्रकार का है। निश्चयनय से शुद्धात्मा के सच्चे स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है। शुद्धात्मा के सच्चे स्वरूप का जानना सम्यक् ज्ञान है, और शुद्धात्मा के स्वरूप में रमना सम्यक् चारित्र है, अर्थात् श्रद्धाऔर ज्ञान सहित आत्मध्यान को ही मोक्ष मार्ग कहते हैं । व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्चय मोक्ष मार्ग का साधक है । जिनके द्वारा निश्चय रत्नत्रय का लाभ हो, उनका व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं । जीव,अजीव,आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्वों के, या इन में पुण्य पाप और मिला कर नौ पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यक् दर्शन, तथा जिनेन्द्र प्रतिपादित आगम के ज्ञान को व्यवहार सम्यक् ज्ञान कहते हैं। अशुभ मार्ग की निवृत्ति, शुभ मार्ग की प्रवृत्ति, व्यवहार सम्यक् चारित्र है ।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमविगृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता ॥२०९॥
बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधि लाभस्य ।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥
असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्म बन्धो यः ।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

इस रत्नत्रय धर्म का पालन मुनिराज तो पूर्णतया करते हैं और गृहस्थ एकोदेश करते हैं। दोनों प्रकार का रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। निश्चय रत्नत्रय

साक्षात मोक्ष मार्ग है और व्यवहार परम्परा मोक्ष मार्ग है । ज्ञानी तथा विवेकी जीव गृहस्थ में रहते हुए भी संसार के विषय भोगों से विरक्त,तथा मोक्ष मार्ग के साधन करने में उद्यमी रहते हैं । उन्हें योग्य है कि अवसर प्राप्त होने पर मुनिपद को धारण कर लेवें और सकल रत्नत्रय धर्म का पालन कर मोक्ष पद को प्राप्त करें। जीव तीन प्रकार के होते हैं । बहिरात्मा, अन्तरात्मा,परमात्मा । इनमें से बहिरात्मा जीव तो मिथ्या दृष्टि होते हैं, वह शरीर और आत्मा को एक गिनते हैं, तत्वों से अजान होते हैं। इनके सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र नहीं होते । इनके परिणाम द्वेष मई ही हुआ करते हैं । इस लिये इनके सर्वथा कर्म बन्ध अवश्य हुआ ही करता है । अन्तरात्मा—जो आत्मा को जानते हैं, (सम्यक् दृष्टि जीव) ये तीन प्रकार के होते हैं,उत्तम,मध्यम और जघन्य । उत्तम अन्तरात्मा—जो २४ प्रकार के परिग्रह रहित, शुद्ध परिणामी, आत्मध्यानी मुनीश्वर हैं वे उत्तम अन्तरात्मा हैं । मध्यम अन्तरातमा—पंचम गुणस्थानवर्ती,देशव्रती श्रावक और छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं । जघन्य अन्तरात्मा—चतुर्थम गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक् दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं। अन्तर आत्माओं के जितने अंशों में रागभाव का अभाव होता है, उतने अंशों में ही बन्ध का अभाव भी होता है ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

इस आत्मा के जिस अंश से सम्यक् दर्शन है,उस अंश से बन्ध नहीं

है। जिस अंश से इस आत्मा के सम्यक् ज्ञान है, उस अंश से इसके बन्ध नहीं है। जिस अंश से राग, उस अंश से इसके बन्ध है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥
दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

अभेद रत्नत्रय की दशा में दर्शन ज्ञान चारित्र एकरूप होकर प्रकाशमान होते हैं, शुद्ध भावों की निश्चल दशा होती है। ऐसी हालत में बन्ध का प्रकाश कहां। अर्थात् ऐसी दशा में रागभाव के अभाव के कारण बन्ध होता ही नहीं। तात्पर्य यह है कि जिन अंशों से आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमन करता है, वह अंश सर्वथा बन्ध के हेतु नहीं है, किन्तु जिन अंशों से यह आत्मा रागादिक विभावरूप परिणमन करता है, वह ही अंश बन्ध के हेतु हैं। इस प्रकार अन्तरात्माएँ अपने अपने रागभाव के अनुसार ही कर्मों का बन्ध किया करते हैं। रत्नत्रय बन्ध का कारण नहीं है। परमात्मा के दो भेद हैं। सकल परमात्मा—जिन्होंने चारों घातिया कर्मों अर्थात् दर्शनावरणीय, मोहनीय, ज्ञानावरणीय और अन्तराय कर्मों का क्षय कर दिया है और लोकालोक को देखने वाले सर्वदर्शी हैं। यह परमात्मा, क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, रोग, मोह, चिन्ता, जरा, जन्म, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, राग, आकुलता, इन अठारह दोषों से सर्वथा रहित होते हैं और समवसरण, अष्ट प्रतिहार्य आदि विभूति संयुक्त होते हैं। परमौदारिक शरीर के धारी सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी, जीवन्मुक्त अरहन्त भगवान ही सकल परमात्मा हैं। निकल परमात्मा—भाव कर्म, द्रव्य कर्म और नो-कर्म रूप तीन प्रकार के कर्म मल से रहित, निर्मल, शरीर रहित सिद्ध भगवान ही निकल परमात्मा कहलाते हैं।

गाथा—णट्ठट्ठ कम्मदेहो लोयालोयस्यजाण ओदट्ठा।

पुरिसायारो अप्पासिद्धो झाएह लोपसिहरत्थो॥ (द्रव्यसंग्रह गा० ५२)

अर्थात् अष्ट कर्म और औदारिक पञ्च शरीरों को नष्ट कर चुकने वाला, लोकालोक को जानने वाला तथा देखने वाला, पुरुष के आकार मात्र का धारक और लोक के अग्रभाग में स्थित आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। वह ही ध्यावने योग्य है, वह ही स्मरण करने योग्य है। निश्चयनय से जीव अपने शुद्ध दर्शन, ज्ञान, सुख वीर्यमयी स्वभाव में रहने वाला है। अनादि काल से मिथ्यात्व तथा अज्ञान के कारण निज स्वरूप को न जानता हुआ, कर्म जनित अवस्थाओं में ही तन्मय होकर उनके अनुकूल आचरण करता हुआ पर समय रूप हो रहा है। यही जीव जब कर्म जनित अवस्थाओं को अपना स्वभाव न जान, अपने निज स्वभाव को भली भान्ति पहचान कर, उसमें ही रमण करता है, तो वह वीतराग भाव को बढ़ाता हुआ कर्म के बन्धनों से छूटता चला जाता है और परम्परा से कर्मों से सर्वथा रहित हो मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। अविरत सम्यक् दृष्टि, तथा अणुव्रती सम्यक् दृष्टि और छठे प्रमत्त गुण स्थानवर्ति साधु यद्यपि स्वात्मानुभव में लीन न हों; लौकिक व्यवहार तथा शुभ क्रिया आदि रूप धार्मिक व्यवहार में अपना उपयोग लगाते हों। चारित्र की अपेक्षा उस समय वे स्वसमय रत नहीं हैं, तथापि श्रद्धान व ज्ञान की अपेक्षा वह पर समय रत नहीं हैं। वे भली भान्ति जानते है और श्रद्धान रखते हैं कि आत्मा का हित निज स्वभाव में रमण करना ही है, वह जानते हैं कि चारित्र में जो कुछ भी कमी है वह चारित्र मोहनीय कर्म के उदय का कार्य है। मिथ्या दृष्टि सर्वथा भेद विज्ञान से रहित होता है, वह निज आत्मस्वभाव को जानता हुआ, श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण तीनों में ही पर समयरूप है। सर्वथा राग मई परिणाम होने के कारण वह गाढ़ कर्मों के बन्धनों से बन्धता

रहता है सराग सम्यक् दृष्टि बहुत कम और वीतराग सम्यक् दृष्टि और भी थोड़े बन्ध को करता है। जब कषाय रहित होकर क्षीण मोह गुण स्थान में शुद्धोपयोगी हो जाता है, तब तुरन्त ही चारों घातिया कर्मों को क्षय करके अरहन्त परमात्मा हो जाता है।

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥२१९॥

रत्नत्रय धारी मुनियों के देवायु आदिक पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है, यह सब जानते हैं, परन्तु आप जब रत्नत्रय को निर्बन्ध सिद्ध कर चुके हैं, तब यह बतलाइये कि इन के बंधका कारण क्या कोई और है या यही रत्नत्रय है ?

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

उत्तर—जहां मुनिराज गुण स्थानों के अनुसार रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वहां उनके देव, गुरु, शास्त्र की सेवा, भक्ति और उपवास आदि रूप शुभोपयोग का भी अनुष्ठान होता है, यह शुभोपयोग का अनुष्ठान ही देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारण होता है। इस पुण्य प्रकृति बन्ध में शुभोपयोग का ही अपराध है, रत्नत्रय का नहीं, रत्नत्रय तो मोक्ष का ही मार्ग। दृष्टान्त—जैसे घृत आदि पदार्थ स्वभाव से ठंडे होने पर भी अग्नि के संयोग से दाह का कारण हो जाते हैं, तैसे ही यह रत्नत्रय स्वभाव से तो मुक्ति के कारण हैं। तौ भी पंच परमेष्ठी आदि शुभ द्रव्य के आश्रय में होने से पुण्य बन्ध के कारण कह दिये जाते हैं। वास्तव में तो शुभोपयोग पुण्य बन्ध रूप कार्य में कारण है, और रत्नत्रय मोक्ष रूप कार्य में कारण है।

आगे अष्ट द्रव्य कर्म और उनके बन्ध का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

समस्त लोक में पुद्गल परमाणु भरे हुवे हैं, उनमें कार्माण वर्गणा के परमाणु भी हर जगह मौजूद हैं। यह आत्मा जब मन, वचन, कायरूप योगों के द्वारा सकम्प वा कषाय सहित होता है, तब वे कार्माण वर्गणायें कर्म रूप हो कर आत्मा से सम्बन्ध कर लेती हैं। इसी को कर्म बन्ध कहते हैं। उस समय कषाय यदि मन्द होते हैं, तो कर्मों का बन्ध मन्द होता है। और कषाय यदि तीव्र होते हैं, तो कर्म बन्ध भी तीव्र होते हैं, कर्म बन्ध चार प्रकार का होता है। प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभाग बन्ध, प्रदेश-बन्ध। इन में से प्रकृति-बन्ध, और प्रदेश-बन्ध तो मन, वचन, काय के योगों की क्रिया से आस्रव पूर्वक होता है, और स्थिति बन्ध और अनुभाग-बन्ध के कारण काषय ही होते हैं। प्रकृति-बन्ध—प्रकृति नाम स्वभाव का है, जैसे नीम का स्वभाव कड़आ है। और गुड़ का मीठा, कर्मों में आठ प्रकार के स्वभाव का या रसों का पड़ना प्रकृतिबन्ध है। कर्मों की मूल प्रकृतियें आठ हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति है ज्ञान को ढक देना। इस का स्वभाव परदे के समान है, जैसे परदे के पड़ जाने से वस्तु दिखाई नहीं देती, वैसे ही ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति आत्मा से सम्बन्ध कर तत्व ज्ञान को नहीं होने देती। दर्शनावर्णीय कर्म की प्रकृति है दर्शन को ढक देना, रोक देना। इस का स्वभाव दरबान जैसा है। जैसे दरबान राजा के दर्शन नहीं होने देता, वैसे ही यह कर्म प्रकृति दर्शन को ढक देती है अर्थात् आत्मा को सामान्य लोक महा सत्ता का ज्ञान नहीं होने देती। वेदनीय कर्म—वेदनीय का अर्थ है अनुभव कराना जो कर्म संसारिक सुख दुख की सामग्री जोड़ कर सुख दुख का भोग करावे, उसे वेदनीय कर्म प्रकृति कहते हैं। यह वेदनीय कर्म दो प्रकार का होता है साता वेदनीय, जिस के उदय से शारीरिक मांसिक अनेक प्रकार

की सुख रूप सामग्री प्राप्त होती है । दूसरी असातावेदनीय—जिस के उदय से दुःखदायक सामग्री की प्राप्ति होती है । वेदनीय कर्म का स्वभाव शहद लपेटी हुई तलवार के समान है । जैसे वह चाटने से तो मीठी लगती है, परन्तु जिह्वा को काट डालती है, उसी प्रकार वेदनीय कर्म कुछ थोड़ी देर साता दिखा कर फिर असाता से पीड़ित रखता है । मोहनीय कर्म का स्वभाव मदिरा जैसा है। जैसे मदिरा जीवों को असावधान (बेहोश) बना देती है, उसी प्रकार मोहनी कर्म आत्मा को संसार में पागलसा बना देता है। मोहनी कर्म के दो भेद हैं-दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय। इन में से दर्शन मोहनीय तो आत्मा का दर्शन अर्थात् सम्यक्त गुण का घात करता है, और चारित्र मोहनीय आत्मा के चारित्र गुण का घात करता है। आयु कर्म का स्वभाव आत्मा को किसी भी शरीर में नियमित समय तक रोके रखने का है। इसका स्वभाव शिकंजे (काठ) के समान है। जैसे शिकंजे में पांव को अटका देते हैं, और शिकंजे से पांव को निकाल कर चोर आदि भाग नहीं सकते, वैसे ही आयु कर्म के पूर्ण हुए विना जीव नरकादि से निकल नहीं सक्ते। नाम कर्म का स्वभाव चित्रकार के समान है-जैसे चित्रकार नाना प्रकार के आकार बनाता है, उसी प्रकार नाम कर्म आत्मा से सम्बन्ध करके नाना प्रकार के मनुष्य तिर्यञ्चादिक आकार बनाता है। शरीर, संहनन, संस्थान अङ्गोपाङ्ग, जाति आदि का निर्माण नाम कर्म ही से होता है। गोत्रकर्म का स्वभाव कुम्भकार के समान है। जैसे कुम्भकार छोटे, बड़े नाना प्रकार के वर्तन बनाता है, उसी प्रकार गोत्रकर्म उच्च नीच गोत्रों में जीव का व्यवहार कराता है। जिस कर्म के उदय से लोक पूज्य कुल में जन्म होता है, उसे उच्च गोत्र-कर्म कहते हैं। और जिसके उदय से निंद्य, दारिद्री अप्रसिद्ध, दुःखों से से आकुलित, नीच कुल में जन्म होता है उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं।

अन्तराय कर्म का स्वभाव राजा के उस भंडारी के समान है, जो

राजा के दिलाने पर भी किसी को दान नहीं देता। जैसे भंडारी भिक्षुकों को दान का लाभ नहीं होने देता, उसी प्रकार अन्तराय कर्म जीवों के दान, लाभादि में अन्तराय डाल देता है। इन में से ज्ञानावरणी, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चारों तो घातिया कर्म कहलाते हैं, क्योंकि यह आत्मा के ज्ञानादि गुणोंका घात करने वाले हैं। बाकी चारों कर्म अर्थात वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म अघातिया कर्म कहलाते हैं। इन में आत्मा के गुणों के घात करने की तो शक्ति नहीं होती, तौ भी घातिया कर्मों के सहायक ज़रूर हैं। प्रदेश बन्ध-उक्त आठ प्रकार के कर्मों का आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप से, संख्या को लिये हुवे, सम्बन्ध होना, प्रदेश बन्ध है। स्थिति वन्ध-आत्मा के साथ कर्मों के वन्ध रहने की मर्यादा को कहते हैं। जो कर्म बन्ध को प्राप्त हुवा, वह कितने काल तक आत्मा के साथ रहेगा, इसी का नाम स्थिति बंध है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय इन चारों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा कोड़ी सागर की है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय इन में से दर्शन मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ा कोड़ी सागर की है, और चारित्र मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा कोड़ी सागर है। नाम और गोत्र कर्म दोनों की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा कोड़ी सागर की है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर की है। जघन्य स्थिति इस प्रकार है। वेदनीय की १२ मुहूर्त, नाम, गोत्र की ८ मुहूर्त और बाकी सब कर्मों की १ मुहूर्त है। इस प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलाई गई। मध्यम स्थिति के अनेक भेद हैं। अनुभागबन्ध—उपर्युक्त आठों कर्मों के विपाक होनेको अर्थात उदय में आकर रस देने के शक्ति की हीनाधिकता होने को अनुभाग बन्ध कहते हैं। घातिया कर्म सब ही अशुभ हैं। परन्तु अघातिया कर्म सब ही अशुभ नहीं हैं, उन में से साता वेदनीय, शुभ आयु शुभ नाम और उच्च गोत्र शुभ है। अशुभ अघातिया कर्म प्रकृतियों

में नीम कांजी, विष तथा हलाहल के समान उत्तरोत्तर फल देने की शक्ति है। शुभ प्रकृतियों में भी गुड़, खांड, मिश्री तथा अमृत के समान उत्तो-त्तर फल देने की शक्ति है। घातिया कर्मों में लता, दारु, अस्थि और पाषाणरूप फल दान शक्ति होती है। जितने जितने कषाय पुष्ट होते हैं, उतनी उतनी ही कर्मों की स्थिति ज्यादह ज्यादह होती है, और जितनी जितनी कषाय निर्बल अथवा मन्द होती हैं, उतनी उतनी ही कर्मों की स्थिति हीन होती है, परन्तु आयु कर्म में नरक की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक पड़ती है। शुभ आयु कर्म की स्थिति मंद कषाय से अधिक व तीव्र कषाय से कम पड़ती है। पाप कर्मों का रस या अनुभाग तीव्र कषाय से अधिक व मन्द कषाय से कम, तथा पुण्य कर्मों का अनुभाग मंद कषाय से अधिक व तीव्र कषाय से कम पड़ता है। प्रकृति वन्ध में जो कर्मों की आठ मूल प्रकृतियें वतलाई गई हैं उन में से ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु कर्म के चार, और अन्तरायकर्म के पांच भेद हैं नाम कर्म की ४२ प्रकृतियों के भेदानुभेद करने से कुल प्रकृतियें नाम कर्म की ९३ हो जाती हैं। इस प्रकार आठों कर्मों की कुल प्रकृतियें १४८ होती हैं। (जो कर्म प्रकृतियों के सम्बन्ध में विशेष जानना चाहें वह तत्वार्थ सूत्रजी या गोमट्टसार कर्मकांड से देखें) इन १४८ प्रकृतियों में से वन्ध दशा में अभेद विवक्षा से १२०, उदय में १२२, और सत्व में १४८ ही हैं। इन में से मिथ्यादृष्टि, तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर प्रकृति, और आहारक अङ्गोपाङ्ग नाम की प्रकृति इन तीनों प्रकृतियों को छोड़ कर १०७ का वन्ध हुआ करता है।

सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्म्मणो बन्धः ।
योऽप्युपदिष्टः समयेन नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

यहां यह प्रश्न होता है कि जब पहले यह कह चुके हैं कि रत्नत्रय मोक्ष

रूप ही है, बन्ध का कारण नहीं है, तो इन तीनों प्रकृतियों का बन्ध सम्यक्त में कैसे होता है ? इस प्रश्न का समाधान यह ही है कि सम्यक्त के दो भेद है, एक सराग सम्यक्त, दूसरा वीतराग सम्यक्त। सराग सम्यक्त कुछ रागभाव से युक्त होता है, और वीतराग सम्यक्त रागभाव मुक्त होता है। इस लिये सराग सम्यक्त में ही रागभाव के मेल के कारण ही इन तीन प्रकृतियों का बन्ध होता है, वीतराग सम्यक्त में नहीं। सराग सम्यक्त में तथा चारित्र में ही योग और कषायों के संयोग से इनका बन्ध होता है। बन्ध का कारण योग और कषाय ही हैं, सम्यक्त और चारित्र तो उदासीन रूप हैं।

सति सम्यकत्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥

उदाहरण—जैसे महा मुनीश्वरोंके समीपवर्ती जाति विरोधी जीव अपने अपने बैर भाव को त्याग देते हैं, परन्तु मुनिराज इस बैर-भाव त्यागरूप कार्य के न तो कर्ता ही हैं और न अकर्ता ही हैं। कर्ता तो इस कारण नहीं हैं कि वे ध्यानारूढ परम उदासीन वृत्ति के धारक बाह्य कार्यों से सर्वथा पराङ्मुख होते हैं। अकर्ता इस कारण नहीं है कि यदि मुनिराज न होते तो परस्पर जाति विरोधी जीव बैर भाव को नहीं त्यागते इसलिए वह तो कर्ता अकर्ता न होकर उदासीन ही हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति-बन्ध आहारक प्रकृति-बन्ध में सम्यक्त तथा चारित्र उदासीन ही होते हैं। इस प्रकार रत्नत्रय मोक्ष रूप ही है, पुण्य प्रकृति के बन्ध का कारण कदापि नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि राग अंश मात्र भी मोक्ष मार्ग में बाधक है। अभेद रत्नत्रय ही साक्षात मोक्ष का कारण है। वीतरागरूप शुद्धोपयोग के बिना संसार से मुक्त होना असंभव है। आत्मा मेंस्थिरता ही मोक्ष का कारण है, मुक्ति का लाभ जब ही होगा जब कि निर्विकल्प समाधि का लाभ होगा। निर्विकल्प समाधि की दशा को स्वर्गीय पं० दौलतराम जी ने अपने छहढाले में मनहोर शब्दों में दर्शाया है।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डार अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तें निज भाव को न्यारा किया॥
निज माहिं निज के हेत निज कर, आपको आपै गह्यो।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यो॥१॥
जहां ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प बच भेद न जहां।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध, उपयोग की निश्चल दशा।
प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत, ये तीनधा एकै लसा॥२॥
परमाण नय निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिपै।
दृग ज्ञान सुख बल मय सदा, नहिं आन भाव जु मो विषै॥
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित पिंड चंड अखंड सुगुण करंड, च्युत पुनि कलनि तैं॥३॥
यो चिन्त निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र कै नाहीं कह्यौ॥
तब ही शुक्ल ध्यानाग्निकर, चउ घात विधि कानन दह्यो।
सब लख्यौ केवल ज्ञान कर; भविलोक को शिव मग कह्यो॥४॥
फुनि घाति शेष अघाति विधि, छिन मांहि अष्टम भू बसे।
वसु करम विनशे सुगुण वसु, सम्यक्त आदिक सब लसे॥
संसार वार अपार पारावार तरि, तीरहिं गयो।
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भयो॥५॥
निज माहिं लोक अलोक गुण, पर्याय प्रतिबिंबित ठये।
रहि है अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव वरणये॥
धन धन्य है जे जीव, नर भव पाय यह कारज कियो।
तिन ही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लियो॥६॥

मुख्योपचार दुभेद यों बड़ भाग रत्नत्रय धरैं ।

अरु धरैंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश जल जग मल हरैं ॥७॥

जब मुनिराज पूर्ण स्वरूपाचरण के समय भेद ज्ञान रूपी बहुत तेज छैनी से अपने अन्तरङ्ग का परदा तोड़ कर और शरीर के वर्णादि बीस गुणों और राग द्वेष, क्रोध मान आदि भावों से अपने आत्मिक भावों को जुदा करके, अपने आत्मा में अपने आत्म हित के लिये, अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को आप ही ग्रहण करते हैं, तब गुण गुणी, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय में कुछ भेद नहीं रह जाता है, अर्थात् ध्यान मय अवस्था में सब एक हो जाते हैं, विकल्प मिट जाता है। जिस, आत्म ध्यान की अवस्था में न ध्यान का, न ध्याता का और न ध्येय का कोई भेद है, और न बचन से कहने योग्य ही इन में भेद है। उस से तो चेतना भाव ही कर्म, चेतना ही कर्ता और चेतना ही क्रिया है। यहां कर्ता, कर्म, क्रिया भाव बिलकुल जुदा नहीं है। यहां तो शुद्ध भाव की स्थिर दशा है, जिस में दर्शन, ज्ञान चारित्र भी एक रूप हो कर प्रकाशमान हो रहे हैं। जिस ध्यान अवस्था में प्रमाण, निक्षेप का प्रकाश अनुभव में नहीं आता। यही अनुभव होता है कि मैं दर्शन, ज्ञान, सुख वीर्य रूप हूं, मेरे में दूसरा अन्य कोई भाव नहीं है। मैं ही साध्य हूं और मैं ही साधक हूं, तथा कर्म और कर्म फल से रहित भी मैं ही हूं। मैं चैतन्य पिंड हूं और मैं ही प्रचंड, खंड रहित उत्तम गुणों का पिटारा हूं और सर्व पापों से भिन्न हूं। इस प्रकार मुनिराज जब आत्म ध्यान में लीन होते हैं तो उस दशा में जो अकथनीय आनन्द उन को प्राप्त होता है वह आनन्द न तो इन्द्र अहमिन्द्र को प्राप्त होता है और न नागेन्द्र को मिलता है और न चक्रवर्ति को कभी प्राप्त होता है। उस समय वह शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा चार घातिया कर्म रूपी बन को भस्म कर, केवल ज्ञान को प्राप्त करते हैं और उस के द्वारा तीन

काल की बातों को जान कर भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश करते हैं। यह उन की अरहन्त अवस्था कहलाती है। इसके बाद आयु कर्म के पूर्ण होने पर आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का क्षण भर में नाश कर मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं। इन अष्ट कर्मों का नाश हो जाने से उन में सम्यक्त आदि अष्ट गुण प्रगट हो जाते हैं। जैसे मोह के नाश से सम्यक्त, ज्ञानावरणीय के नाश से ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के नाश से दर्शन, अन्तराय के नाश से वीर्य, आयु के नाश से अवगाहना नाम के नाश से सूक्ष्मत्व, गोत्र के नाश से अगुरु लघुत्व, और वेदनीय के नाश सें अव्यावाधत्व गुण प्रगट होते हैं। ऐसे वे कर्म रहित परमात्मा संसार रूपी समुद्र से तरकर पार पहुंच जाते हैं, सर्व प्रकार के विकारों से शरीरादिक से रहित अमूर्तिक हो शुद्ध चैतन्यमय अविनाशी सिद्ध हो जाते हैं। सिद्ध भगवान की आत्मा में तीन लोक और अलोक अपने गुण पर्याय सहित ऐसे झलकते हैं जैसे दर्पण में अनेक पदार्थ झलकते हैं। मोक्ष में जैसे और सिद्ध हैं, वैसे ही यह भी अनन्तानन्त काल तक रहेंगे। वे जीव धन्य हैं जिन्होंने मनुष्य भव को पाकर ऐसा कार्य किया। ऐसे ही जीवों ने अनादि काल से चले आये पंच परावर्तन रूप संसार को त्याग कर उत्तम सुख की प्राप्ति की है। वास्तव में जैन धर्म के अनुसार मुक्ति आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। इस दशा में जीव कर्मों से सर्वथा रहित हो सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष दशा में यह जीव अपने स्वभाव में स्थिर रहता है।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥२२१
नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थिता निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥२२३॥

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४॥

और कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् जो कुछ करना था वह कर चुकता है और कुछ करना बाकी नहीं रहता। जिस प्रकार आकाश रजयुक्त नहीं होता, अपने स्वभाव में स्थित रहता है, किसी के द्वारा घाता नहीं जाता और अत्यन्त निर्मल होता है, उसी प्रकार मुक्तात्मा अपनी निरावरण अनन्त शक्ति सहित, अपने अनन्त दर्शन तथा अनन्तज्ञान स्वरूप को लिये, परमज्ञानानन्द में अतिशय मग्न, निरन्तर ही लोक के शिखरस्थित मोक्ष स्थान में प्रकाशमान होता है। कविवर पं० बनारसीदासजी ने सिद्ध भगवान स्तुति इस प्रकार की है।

अविनाशी अविकार परमरस धाम हैं।
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम हैं॥
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त हैं।
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त हैं॥१॥
ध्यान अग्नि कर कर्म कलंक सबै दहे।
नित्य निरंजन देव स्वरूपी ह्वै रहे॥
ज्ञायकके आकार ममत्व निवारिकै।
सो परमातम सिद्ध नमूं सिर नायकै॥२॥

भव्य जीवों को उचित है कि आलस्य छोड़ें, विषय भोगों से विमुख हों, और भेद विज्ञान की प्राप्ति करें, निश्चय तथा व्यवहार दो भेद रत्नत्रय धर्म को धारण कर मोक्ष पद की प्राप्ति करें।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥२२५॥

आगे आचार्य एक विलक्षण उदाहरण द्वारा बताते हैं कि जैन नीति

वस्तुस्वरूप का साधन किस प्रकार करती है। जिस प्रकार दही विलोने वाली ग्वालिनी मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है, दूसरे से ढीली कर देती है, और दोनों की क्रिया से दही से मक्खन बनाने रूप कार्य की सिद्धि करती है, उसी प्रकार जिन वाणी ग्वालिनी सम्यक् दर्शन से तत्व स्वरूप को अपनी ओर खींचती है, सम्यक् ज्ञान से पदार्थ के भाव को ग्रहण करती है, और दर्शन ज्ञान की आचरणरूप क्रिया से अर्थात् सम्यक् चारित्र से परमात्म पद की सिद्धि करती है।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अन्त में आचार्यवर श्री अमृतचन्द्रजी महाराज अपनी लघुता प्रगट करने के लिये कहते हैं कि २७ स्वर ३३ व्यञ्जन अनादि निधन हैं। उन अक्षरों से पद बने हैं पदों से छन्द बने हैं और छन्दों से यह समुदायरूप ग्रन्थ बन गया। इस में मेरी कुछ भी कृति नहीं है। यह स्वाभाविक रचना है।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं
नाम ग्रन्थः समाप्तः।